॥ श्रीः ॥

पण्डित-श्रीचक्रधरशर्मकृतसान्वयार्थ-

भाषाटीकासहिता ।

वेदस्तुतिः ।

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष-"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,

बम्बई.

181

ACC NO 1249

4=00

MANAGER

श्रीमते रामानुजाय नमः।

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धोत्तरार्द्ध-

वेदस्तुतिः।



रीवाँराज्यमण्डलान्तर्गतहरदिग्रामनिवासि-

पं० श्रीचक्रधररामानुजश्रीवैष्णवदासकृत-

सान्वयार्थवेदस्तुत्याशयादर्शाख्य-

भाषाटीकयोपेता।

वदान्यवरशिरोमणिश्रीराजगोपालमठाधीश्वराणां
श्री १००८ श्रीगदाधराचार्य्याणां
हार्दिककृपाकटाक्षैः

मुम्बय्यां

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रणयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशिता।

विक्रमार्कसंवदब्दाः १९८७.

मुद्रक-

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष- "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस, बम्बई.

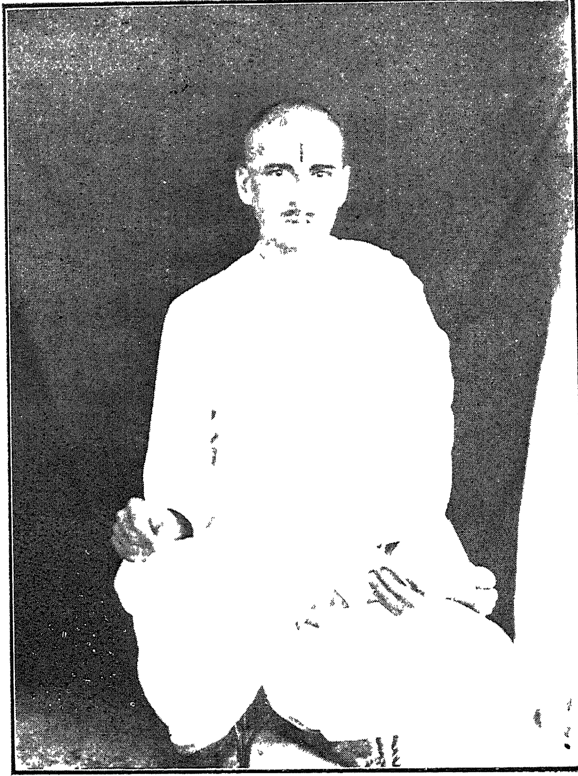


प्रकाशक-

श्री १००८ स्वामी श्रीगदाधराचार्य्यजी

श्रीराजगोपाल मठ-पुरी.

पं० श्रीचक्रधरशर्मा ।



गूढं श्रुति-स्तुति-नगोदर-कुंजपुंजे
सर्वागमादि-निगमान्त-महास्मृतीनाम् ।
भावं समुद्धरति यः सुधियां मुदर्थं
सोऽयं कविर्जयतु चक्रधरप्रपन्नः ॥ १ ॥

श्रीमत्पराशरकुलोदितपूर्णचंद्रं
शिष्योत्तमंगुरुवरं रघुनन्दनस्य ।
सत्यादिसद्गुणयुतं जगदीशभक्तं
श्रीमद्गदाधरगुरुं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥

उत्सर्गपत्र ।

मानानीय !

श्रीमन्यतीन्द्र गुणवन्महनीयकीर्त्ते
श्रीमत्कराब्जयुगलेऽद्य समर्पयामि ।
भाषानुवादसहितां किल मुद्रणार्थं
"वेदस्तुतिं" तव पदाब्जसदाऽऽश्रितोऽहम् ॥ १ ॥

आप परोपकारके वास्ते लाख २ रुपया व्यय किये हैं और कर रहे हैं, उसका ज्वलन्त उदाहरण नरेन्द्रसरोवर (चन्दनतलाव) और श्रीवचनभूषण आदि कितने धर्मग्रन्थ प्रकाश कर वितरण कर रहे हैं. मैं एक आपके चिराश्रित वैष्णव साधुओंके उपकारके वास्ते बहुपरिश्रमसे "वेदस्तुति" की भाषाटीका निर्माण कर छपवानेके वास्ते आपके करकमलमें समर्पण करता हूँ.आशा है कि आप नैसर्गिक उदारताके साथ मेरे यह क्षुद्रग्रन्थको प्रकाश कर साधारणके उपकार साधन करेंगे । इति ।

आपका—

पं० श्रीचक्रधरशर्मा ।

भूमिका ।



श्रीसज्जन महाशयोंके समीपमें सविनीत निवेदन यह है कि इस कलियुगमें यावत् साधन हैं उनमें भक्ति प्रधान साधन कही गयी है,वह भक्ति नव प्रकारकी है, जैसे महाभागवत श्रीप्रह्लादजी कहे हैं कि—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ॥ अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥" ये नव भक्तियां परमात्माके गुणानुवादका श्रवण और कीर्त्तनरूपसे कहे गये हैं, वही श्रवण कीर्त्तन श्रीमद्भागवतमें मुख्यतया प्रतिपादित हैं, अतएव श्रीमद्भागवत अष्टादश पुराणोंमें शिरोमणि है, जैसे—"कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः" तथा यह श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप ही है, "स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवते न्यधात्" यद्यपि श्रीमद्भागवत साद्यन्त विषम हैं तथापि वेदस्तुति विषमतम है इसमें ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियोंका अर्थ पूर्णतया सन्निवेशित है। इस वेदस्तुतिके कितने संस्कृत भाषानुवाद हो चुके हैं किन्तु उक्त स्तुतिका श्रुत्यनुसार अनुवाद कहीं देखनेमें नहीं आता। यह विषय शोचकर सर्वसाधारणोंके उपकारार्थ श्रीमद्भागवतचन्द्रचंद्रिका टीकाके अनुसार यथामति सान्वयार्थ और विशदार्थ हिन्दी अनुवाद लिखनेमें प्रवृत्त भया हूं, इसमें प्रमादवश जो कुछ त्रुटियां भयी होंगी उनका सज्जन पाठकजन अपने स्वाभाविक सौहार्दभावसे क्षमा कर गुण ग्रहण करेंगे और मदीय परिश्रमको सफल करेंगे, क्योंकि संसारमें दो प्रकारके ग्राहक होते हैं कि जिसकी प्रामाणिकोक्ति यह है—"शूर्पवद्दोषमुत्सृज्य गुणं गृह्णन्ति साधवः॥ दोषग्राही गुणत्यागी खलस्तु तितउर्यथा" यत्र कुत्र श्रुतियां भी टिप्पणीमें दे दी गयी हैं। इति।

रीवां—राज्य—मण्डलान्तर्गत—

हरदिग्रामनिवासी

पं० चक्रधर शुक्ल ।



श्रीमते रामानुजाय नमः ।

अथ वेदस्तुतिः

अन्वयार्थादिसहिता ।



श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ॥ १ ॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम् ।

सभी माया जीवात्मक भुवन है काय जिसके, रचै पालै नाशै बसत उरमे जो सबनके ।
प्रभू अन्तर्यामी परम गृह है जो सुखनको, वही देवै भक्ती हरि गुरुपदोंमें सबनको ॥ १ ॥
पसारै जो काया उदित इव दीखै जगत ये, करै जो आकुंचन प्रलय इव भावै भुवन ये ॥
करै चित्रा लीला जिमि नट रचै रङ्गभुविको, वही स्वामी लेवै चरणशरणोंमें सबनको ॥ २ ॥

अन्वयार्थः ।

हे ब्रह्मन ! राजा परीक्षित प्रश्न करते हैं कि हे श्रीशुकदेवजी !
गुणवृत्तयः-(जाति गुण क्रियाओंमेंसे किसी एक) गुणके द्वारा कथन करनेवाली
श्रुतयः-श्रुतियां (उपनिषद् मन्त्राभिमानी देवतायें)
अनिर्देश्ये-माया जीवके सजातीय भावसे सर्वथा कथन करनेके अयोग्य
सदसतः परे-मायाजीवसे परे (भिन्न)
निर्गुणे ब्रह्मणि-संसारकारक अथवा रज तमादि गुणोंसे रहित ब्रह्ममें
साक्षात् कथं चरन्ति-ठीक ठीक किस तरह संयुक्त होती हैं(प्रतिपादन करती हैं)?

विशदार्थः ।

यह बात लोक, वेद, श्रुति, स्मृति तथा इतिहास पुराणोंसे भी सुप्रसिद्ध है कि ब्रह्म वेद प्रतिपाद्य है अर्थात् वेद सतत ब्रह्म विचारानुभवानन्दमें ही मग्न रहता है और वेद ब्राह्मणस्वरूप है अतएव ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य वेदविदित कर्म करानेके अधिकारी भी नहीं है, इस बातको सर्व सम्प्रदायाचार्योंने सिद्ध किया है, 'ब्रह्म वेदप्रतिपाद्य है' इस वाक्यको श्रीकृष्ण भगवान् पूर्व अध्याय श्लोक ९४ में स्वयं निज मुखारविन्दसे कहे हैं-"[1]सर्व वेदोंका ब्राह्मण स्वरूप है तथा सर्व

---

१ "सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयोऽस्म्यहम् ।"

देवस्वरूप मैं हूं" इस श्रीकृष्ण भगवान्के वाक्यसे ही वेदगण ब्रह्मको प्रतिपादन करते हैं यह सिद्ध हो गया। इसके पूर्व अ० ८९ श्लो० ४२ में भी अतिशय शुद्ध सतोगुणके आगार अखिल वेदादिशास्त्रोंके शरीरी अर्थात् प्रतिपादन करनेसे सर्व शास्त्र आपका शरीर है, कारण कि बिना शरीरके किसीका प्रतिपादन नहीं हो सकता अतएव शरीर होनेसे ही शास्त्र आपका ज्ञापक है। इस राजा बलिके वचनसे भी वेदप्रतिपाद्य ब्रह्म सिद्ध हो गया। इसके पूर्व अ० ८४ श्लो० १९-२०-में भी कहा हैं:-विभ्रम-विप्रलिप्सा-प्रमाद-करणापाटवादिपुरुषदोषोंसे रहित शुद्ध वेद आपका हृदय है, परमात्माका शास्त्र ज्ञापक है, "**शास्त्रयोनित्वात्**"यह ब्रह्म सूत्र भी है, इन दोनों श्लोकोंमें मुनि श्रीशुकदेवके वचनसे सिद्ध हो गया। उक्त विषयको श्रुति भी प्रमाणित करती है-"सर्व वेदगण जिस पदको मनन किया करते हैं, समस्त तपवर्ग सर्वदा जिसका गान किया करते हैं" स्मृति भी उक्त वाक्योंको ही प्रमाणित करती है-"अखिल वेदोंसे केवल मैं ही जाना जाता हूं।" इन उक्त श्रुति स्मृति पुराण प्रमाणोंसे चेतन अचेतन (माया जीव) से ब्रह्मकी विलक्षणता (विचित्रता) ही अधिकतर प्रतिपादित है, उस चेतनाचेतनसे विलक्षण ब्रह्मस्वरूप और स्वभावके कथनमें तत्पर निम्न लिखित श्रुतियां-"सत्यस्वरूप ज्ञानघन आदि अन्तरहित ब्रह्म है" "जो समस्त स्थावर जङ्गमात्मक जगतका अन्तर्यामी और करामलकवत् अखिल ब्रह्माण्डको देखता और सर्वज्ञ है" इत्यादि उक्त श्रुतियोंका ब्रह्मके प्रतिपादनमें प्रमाण होने पर भी "यह आत्मा ब्रह्म है" वही ब्रह्म तुम हो, यह दृश्यमान समस्त जगत् ब्रह्म है" इत्यादि श्रुति वाक्योंसे ब्रह्म वाचक शब्दोंके साथ चेतनाचेतन वाचक शब्दोंका कथन किया है किन्तु प्रकृति पुरुष वाचक शब्द ब्रह्मवाचक शब्दके साथ कैसे कहे जा सकते है अर्थात् जीव, प्रकृति और ब्रह्म ये तीनो एक ही नामसे किस तरह व्यवहार किये जा सकते है और किस तरह ब्रह्मको प्रमाणित करते हैं, ऐसा संदेह कर राजा परीक्षित् श्रीशुकदेवजीसे **ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनि**०इस श्लोकसे प्रश्न करते हैं। **गुणवृत्तयः** इस पदमें गुण शब्द विशेषण वाचक है। हे मुनि महाराज! माया जीवमें जाति गुण क्रियाओंमेंसे किसी एकको लेकर प्रवृत्तिनिमित्त करके (प्रवृत्तिनिमित्त जैसे गौमें रहनेवाला गोत्वधर्मवाचक शब्द गौ व्यक्ति (शरीर) पर्यन्तका बोधक होता है) जाति गुण क्रिया विशेषणभूत गुणोंसे युक्त जड़ चेतनको कथन करनेवाली श्रुतियां जड़ चेतनको ही कथन करती है, पुनः जड़ चेतनसे विलक्षण ब्रह्मको ठीक ठीक कैसे प्रतिपादन कर सकती हैं, किसी जातीय आदि गुणोंके प्रवृत्तिनिमित्त(द्वारीभूत)किये विना कभी नहीं प्रतिपादन कर सकती, यह राजाका प्रश्न है। यदि कहो कि सर्व श्रुतियां लक्षणसे कहती है,जैसे-'गङ्गामें गोशाला'कहनेसे गङ्गा तटपर निश्चय किया जाता

१ विशुद्धसत्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि। २ ब्रह्म ते हृदयं शुद्धं (शुक्लं)। ३ शास्त्रयोनेस्तत्वात्मनः। ४ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। ५ तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। ६ वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। ७ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ८ यः सर्वज्ञः स सर्ववित्। ९ अयमात्मा ब्रह्म। १० तत्त्वमसि। ११ सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥

है, अथवा जैसे देवदत्त कहनेसे देवदत्त शरीरान्तर्वर्ती आत्मातक्का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि विना रूप आकारके आत्माका नाम नहीं हो सकता ऐसा ही माया जीवके कथनसे परमात्माका भी कथन होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि कही हुई श्रुतियोंमे मुख्य वृत्तिसे ही ब्रह्मका प्रतिपादन है। यदि कहो कि यहांपर मुख्य वृत्तिसे प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां बहुत कम देखी जाती है और जड़चेतनके द्वारा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां सब लक्षणावृत्तिसे ही प्रतिपादन करती है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि अग्र श्रुति है कि "सर्व वेदगण जिसके पदका विचार किया करते है, समस्त वेदोंसे हम ही जाने जाते है" इन उक्त श्रुतियोंमें **यत्** और **अहम्** शब्दके ग्रहणसे स्वकीयत्वका कथन है अर्थात् सर्वशास्त्रसे ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। अतएव सर्व श्रुतियां मुख्यवृत्तिसे ही प्रतिपादन करती हैं, इसी वाक्यके पोषणार्थ मूलमें **साक्षात्** शब्द दिया है। अब किसी जाति, गुण, क्रियाओंका ब्रह्ममे सम्भव नहीं हो सकता,इस विषयको प्रकाशित करते हुए कहते हैं:--जीव-मायाके सजातीय रूप (समानभाव) से कथन करनेके अयोग्य है, इसका कारण कहते है— जीव मायाके सम्बन्धमें रहनेवाले जातिगुणक्रियाओंका प्रवृत्ति निमित्त करके जीव मायासे भिन्न ब्रह्मका मुख्यवृत्तिसे प्रतिपादन करनेमें श्रुतियां सर्वथा असमर्थ हैं। जाति, गुण, क्रियादिकोंकी ब्रह्ममें प्रवृत्ति क्यों नहीं है? इस सन्देहके निवारणार्थ '**निर्गुणे**' यह शब्द दिया है। जिस ब्रह्मसे रज.स्तमसत्त्व ये तीनों गुण स्वतः दूर हो रहे हैं अथवा रजतमादि गुणोंके जो जो संसारकारक गुण हैं वे जिसमें नहीं है अथवा प्रवृत्तिनिमित्तभूतगुण कि जैसे मनुष्यत्वके कथनसे मनुष्यव्यक्तिमात्रका ज्ञान होता है अर्थात् मनुष्यके जाननेमें मनुष्यत्व निमित्त है इत्यादि गुणोंसे रहित है। **निष्कलं–निष्क्रियम्,** इत्यादि केवल उपलक्षणमात्र हैं किन्तु ब्रह्मको श्रुतियां मुख्यवृत्तिसे कथन नहीं कर सकतीं। इति प्रश्नः॥ १॥

बुद्धीन्द्रियमनप्राणाञ्जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥ २॥

अन्वयार्थः ।

प्रभुः जनानां बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान्, असृजत्	परमात्माने लयकालमें बुद्धिज्ञान कर्मेन्द्रियादि रहित सूक्ष्मरूपमें स्थित जीवोंके सृष्टिकालमें बुद्धि इन्द्रिय प्राणोंको उत्पन्न किया, क्योंकि अध्यक्ष है और प्रतिज्ञादिका निर्वाहक है।
मात्रार्थं	जगत उत्पन्न करनेकी आवश्यकता यह है कि अपने आराधनके योग्य चेतनोंको शरीर देनेके लिये सृष्टि करता है,
च भवार्थं च	उन चेतनोंके अभ्युदयार्थ अथवा अर्थ, धर्म, कामादि सुखभोगार्थ करता है

आत्मने (आत्मार्थ)	परमात्मज्ञान और मुक्तिसाधनके उपयोगी उपासनाओंके लिये सृष्टि करता है। अथवा (जीवस्वरूप तथा परमात्मस्वरूपके ज्ञानार्थ सृष्टि है)
अकल्पनाय (कल्पनाय)	और देव मनुष्यादि भेदनिवृत्त्यर्थ अथवा (अपने क्रीडार्थ जगत् परमात्मा रचता है)।

पूर्वक्त राजाके प्रश्नका श्रीशुकदेवजी इस प्रकार उत्तरके विना कार्यके कारणका ज्ञान हो नहीं सकता अतः पूर्वकार्यका वर्णन करते हुए उत्तर देते है।

विशदार्थः।

इस कार्यभूत जगत्में "[1]जीवोंको निमित्त कर जीवोंके द्वारा अन्तःप्रवेश करते ही स्थावरजङ्गमरूप और देवदत्त यज्ञदत्तादि नामोंको विभाग करूँगा" जो ऐसी प्रतिज्ञा कर "जो[2] उक्त नाम रूपोंको शरीर शरीरीभावसे धारण कर जो आपके हृदयमें प्रेरकरूपसे है वही ब्रह्म है" जो सर्वज्ञानसम्पन्न ब्रह्म उक्त नाम[3]रूपोंको पृथक् २ विभाग कर पुनः उन्हीं नामरूपोसे कहे जाते हुए अन्तःकरणमे प्रेरकरूपसे रहता है। इस जगत्को आपने संकल्पात्मक ज्ञानशक्तिसे उत्पन्न कर तत्पश्चात् स्वतः उसमें जीवके द्वारा प्रवेश करता है तदनन्तर प्रवेश कर स्वतः कार्यकारण रूप होता है अर्थात् उपादान तथा निमित्तकारण स्वयं होता है" **इति श्रुतयः।** यह श्रुतिगण आत्मापर्यन्त कार्यरूप स्थावरजङ्गमात्मक जगत्के नामरूप आकृतिके कथनसे ज्ञात होता है कि जो कुछ चेतनाचेतनात्मक यह जगत् है वह ब्रह्मका शरीर है और अन्तर्यामी आत्मा ब्रह्म ही देवमनुष्यादि स्थूल सूक्ष्मोंका शरीर होकर नाना नामरूप घटमठकुशूलादि आकृतिधारी होता है इसी अर्थका प्रतिपादन करती हुई श्रुतियां जीव मायाविशिष्ट ब्रह्मके वर्णनको छोड़कर अन्यमतका खण्डन करती हैं और स्वमतदोषका परिहार करती हैं, इस संगतिको लेकर उक्तश्रुतियोंका जहां तहां जगत्के उत्पत्तिप्रकरण वर्णनसे ही राजाके प्रश्नका उत्तर होगया, कारण कि श्रुतियां जगत्का उत्पत्ति प्रलय वर्णन द्वारा ही ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, इस आशयको लेकर अब केवल सृष्टिमात्रका ही वर्णन करते हैं, कारण कि जगत्का उपादान और निमित्तकारण ब्रह्म ही है, इस बातको "**बुद्धीन्द्रिय**" इस श्लोकसे कहते हैं— परमात्मा पैहले जीवोंके बुद्धि इन्द्रिय, तथा अहंकारादिकोंको उत्पन्न किया, यदि कहो कि महत्तत्वका जगत् कार्य है अतः महत् स्वयं संसारकी रचना कर सकता है पुनः ब्रह्मका उपादान कारण माननेकी क्या आवश्यकता है ? सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म प्रभु, अध्यक्ष और प्रकृतिआदिका निर्वाहक है अर्थात् स्वयम् उपादान तथा निमित्त कारण होते हुए जगत्प्रवाहका प्रचारक और धारक है, अतः अव्यक्तादिकोंका भी कारण है। अभिप्राय यह है कि जो दृश्यमान

---

१ अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। २ नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म। ३ नामानि रूपाणि विचिन्त्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते। ४ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।

यह स्थावरजङ्गमात्मक जगत् है, उसमें जीवके द्वारा अन्तरात्मरूपसे प्रवेश कर पुनः जो कुछ देवदत्त यज्ञदत्त घट मठादि नामरूपोंको पृथक् २ धारणार्थ महत्‌का एक उपलक्षणमात्र करके समष्टिक्रमसे अर्थात् लयकालमें नामरूपके विभाग करनेके अयोग्य सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें जगत् था, पुनः सृष्टिके उत्पत्तिकालमें, प्रकृति, प्रकृतिसे महत्, महत्‌से अहंकार, अहंकारसे पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), पञ्चतन्मात्रासे पञ्च महाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल पृथिवी पर्यन्त अपना शरीर भूत प्रकृति आदिका उक्त क्रमसे परिणामी करके अर्थात् लय-कालमें अत्यन्तसूक्ष्म माया जीवरूप निजशरीरको सृष्टिके उत्पत्तिकालमें उक्त प्रकृति महदादि क्रमसे पृथिवीपर्यन्त एकसे एकको उत्पन्न कर पुनः तन्मय होकर कार्यकारणवाच्य होते हुए जड़ चेतन मिश्रित देवताओंसे लेकर स्थावरजङ्गम पर्यन्त यावत् जगत् स्वरूप है तत्तत् देवदत्त यज्ञदत्तादि नाम शरीर वाचक होता है अर्थात् जो कुछ देवदत्तादि पृथक् २ नामवाचक ब्रह्म ही हुआ, क्योंकि समस्त जगत् ब्रह्मका शरीर सिद्ध हो चुका है, अतः सम्पूर्ण जड़चेतन-वाचक शब्दोंका परमात्माके शरीरका ही एक स्वाभाविक तत्त्व होनेसे नित्यत्व है (नित्य है) (और मिथ्या कुछ भी नहीं है)। जडचेतनोंका ब्रह्म शारीरिक पदार्थ होनेसे सबोंको ब्रह्मसे अपृथक्सिद्ध विशेषणत्व है। जैसे **नीलोत्पल** में उत्पल विशेष्य है नील विशेषण है, किन्तु यह नील विशेषण उत्पलसे पृथक् कभी नहीं है, इसको अपृथक्सिद्ध विशेषण बोलते हैं। इस अपृथक्सिद्ध विशेषणको आकृत्याधिकरण न्याय से भी कहते है, जैसे—**श्यामोऽयं देवदत्तः** कहनेसे देवदत्तका शरीर आधार है और श्याम आकृति आधेय है किन्तु श्यामता किसी कालमें पृथक् नहीं है। अतएव अपृथक्सिद्ध विशेषण वाचक शब्दोंका विशेषणके कथनसे विशेष्य पर्यन्तका कथन होता है, अर्थात् दोनोंका एक ही साथ कथन होना स्वाभाविक है, क्योंकि गौ आदिक शब्दोंमें, गोत्ववाचक शब्द जैसे साक्षात् गौव्यक्ति पर्य्यन्तका व्यापी होता हुआ मुख्य वृत्तिसे ही प्रतिपादित होता है। वैसा ही ब्रह्मके शरीरभूत चेतनाचेतन वाचक शब्द लोकप्रतीतिमें सिद्ध अपने २ अर्थमें व्यावहारिक होते हुये परमात्मासे अभिन्न विशेषणभूत अर्थोंको प्रवृत्ति-निमित्त करके श्रुतियां साक्षात् परमात्मपर्य्यन्तका मुख्य वृत्तिसे ही प्रतिपादन करती हैं।

यदि कहो कि परमात्मा परम दयालु सर्व कामनाओंसे परिपूर्ण और अपना पराया अर्थके अपेक्षासे रहित है पुनः उसका संसार रचनेका क्या प्रयोजन है? इस प्रश्नमें **"मात्रार्थम्"** इस पदसे कहते हैं कि देहके उत्पादनार्थ है, क्योंकि प्रलय कालमें नामरूपविभागके अयोग्य ब्रह्ममें लीन जीवोंका सृष्टिकालमें अपने सेवन आराधनके योग्य कर चरणादि इन्द्रिययुक्त शरी-रका प्रदान कर जीवोंके ज्ञानप्रदानार्थ सृष्टि रचता है। यद्यपि परमात्माको सृष्टि रचनासे कुछ हानिलाभ नहीं है तथापि जीवोंके अनादिकालिक कर्मवासनावश पीछे पड़ी संसृति हमारे आराधनसे छूट जावेगी ऐसा जीवोंपर परम अनुग्रह कर संसार रचना उचित ही है, इसी बातसे गर्भवास जनन, जरा, मरणादि दुःखोंका प्रवाहरूप जगत् करनेसे ब्रह्ममें निर्दयताकी शंका भी

दूर हो गयी, क्योंकि अनादि कर्मसे प्रेरित जननमरणादि दुःख भगवत्-आराधनके विना कभी छूट नहीं सकता। **भवार्थम्** उक्त शरीरके अभ्युदयके लिये, क्योंकि भगवान्के आराधन करनेवालोको असीम कल्याणरूप अभ्युदय प्रदानार्थ परमात्मा सृष्टि करता है, कारण कि चेतन लोग अनादि कालके कर्मसे पीडित है अतः वे ससारमे जाकर ससारी क्लेश अनुभव कर हमारी आराधना करेंगे, अतएव ससृति दुःखसे निवृत्त होकर मुक्त होंगे, इस उक्त विषयसे देव मनुष्यादि शरीरोंके उत्पत्तिका प्रयोजन कहा गया है, अथवा **भवार्थम्** अर्थ धर्म कामरूप सुख भोग देनेके लिये सृष्टि करता है, **आत्मने** परमात्मविषयक ज्ञान उपत्तिके लिये तथा मुक्तिके साधनभूत उपासनाओंके सिद्धिप्रदानार्थ सृष्टि करता है, अथवा **आत्मार्थं** जीवस्वरूप और परमात्मस्वरूपके सत्ता (सद्भाव) के ज्ञानार्थ, क्योंकि प्रलय कालमे चेतन लोग असत्प्राय (निज स्वरूप तथा परमात्मस्वरूपके ज्ञानसे शून्य) थे, अतः ससारमे जानेसे जीवोको यह ज्ञान होगा कि मै शेष हू और परमात्मा शेषी है। ऐसा ज्ञान होनेसे ही आत्मसत्ता लाभ होगी। एतदर्थ सृष्टि है, **अकल्पनाय** ज्ञान दृष्टिके द्वारा देखनेसे सर्व देव मनुष्य एक ही हैं, कारण कि सभी परमात्माके शरीर है, इसपर भी 'मै देव हू मै मनुष्य हू' इस भेदके निवृत्त्यर्थ और मुक्तिके लिये अर्थात् ईश्वरादि उपासनाओंसे यह भेद निवृत्त होनेसे मुक्त होंगे। यदि कहो कि ब्रह्मके सकल्पमात्रसे ही जगत् उत्पन्न हो जाता पुनः **अनेन जीवेन** इत्यादि क्यों कहा? इसमे कहते है-**कल्पनाय** यद्यपि परमात्मा सर्व कल्याणपरिपूर्ण है तथापि क्रीडा करनेके लिये जगतकी (व्यापार) रचना करता है ॥ २ ॥

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः ।

सा एषा उपनिषद्ब्राह्मी	**सो यह ब्रह्मके प्रतिपादन करनेवाली अतिरहस्यभूत वेदान्तश्रुति**
पूर्वेषां पूर्वजैः धृता	**पूर्वब्रह्मज्ञानियोंके भी पूर्व होनेवाले वामदेवादिकोंसे उक्त श्रुति धारण की गयी है।**

यः इमां, श्रद्धया-अतः जो कोई वेदान्तमें रहस्यभूत इस श्रुतिको श्रद्धापूर्वक

धारयेत्, सः अकिञ्चनः,	**धारण करेगा, सो परमात्माके अतिरिक्त नहीं है प्रार्थनीय जिसको, वह**
क्षेमं गच्छेत्-	**मुक्तिरूप कल्याणको प्राप्त होगा।**

विशदार्थः ।

यदि कहो कि पूर्व श्लोकके कथनानुसार सर्व श्रुतियोंका प्रतिपादन ब्रह्ममे मुख्यवृत्तिसे सङ्गत होना लोकमे नहीं ग्रहण है, किन्तु लोकमे देवदत्तके नामसे देवदत्तका ही ग्रहण होता है, यज्ञ-

दत्तका नहीं होता, अर्थात् सर्व पदार्थोंका पृथक् २ नामसे व्यवहार होना ही लोकमें प्रचलित है, किन्तु दूसरेके नामसे अन्यका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि जो नाम जिस घट,मठ, देवदत्तादिमें नियुक्त है उस नामसे उसीका ज्ञान होता है किन्तु घटके कहनेसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता, पुनः सर्वसाधारण जनोंको उक्त नामोंमें निश्चय व्युत्पत्तिका खण्डन कर आप ब्रह्ममें मुख्यवृत्तिसे किसी प्रकार सिद्ध करते है इस शंकामें **सैषा ह्युपनिषद्** इस श्लोकसे कहते हैं ।

ये कही हुई ब्रह्म प्रतिपादन सम्बन्धिनी श्रुतियां लोकमें उक्त सर्व नामोंमें गौणवृत्तिसे प्रचलित होती हुई ब्रह्ममें मुख्यवृत्तिसे ही सङ्गत होती हैं, क्योंकि ये श्रुतियां वेदान्तमें रहस्यभूत हैं अतः उपनिषद्के रहस्य अर्थका आचार्यके द्वारा विचार करनेसे यह ज्ञात होता है कि सर्व श्रुतिगण ब्रह्मका मुख्य वृत्तिसे ही प्रतिपादन करता है। वेदान्त शास्त्रका अध्ययन नहीं किये हैं उन्हीका देवदत्तके कथनसे व्यावहारिक देवदत्तका ज्ञानहोता है, क्योंकि उनकी बुद्धि ब्रह्मकी तरफ नहीं जाती और जो वेदान्त शास्त्रका पठन पाठन किये हैं तथा वेदान्तके अर्थके अनुष्ठानमें परायण हैं उन लोगोंका जो नाम जिस व्यावहारिक पदार्थमें आरूढ है उस नामसे उस पदार्थका व्यावहारिक ज्ञान होते हुए भी मुख्य वृत्तिसे ब्रह्म ही प्रतिपादित होता है, क्योंकि **घटते इति घटः** अर्थात् जो चेष्टा करे वह घट है इस व्युत्पत्तिको न ग्रहण करनेवाले किसी पुरुषको घट शब्दसे जल आनयन आदि अर्थको जाननेपर भी उस पुरुषकी घट शब्दार्थ जाननेकी शक्ति नष्ट ही है । ऐसे ही श्रुतिका अर्थ न जाननेवालेका सर्व शब्दोंका ब्रह्ममें व्युत्पत्तिका ज्ञान नष्ट ही है, और श्रुत्यर्थ जाननेवाले ज्ञानीका सर्व शब्दोंकी ब्रह्ममें व्युत्पत्तिके ज्ञानकी शक्ति यथार्थ ही है । जैसे पूर्वजोंके पूर्वज वामदेवादि ऋषियोंने यही निश्चय किया है कि सर्व श्रुतियां ब्रह्मको मुख्य वृत्तिसे ही प्रतिपादन करती हैं. और वामदेव प्रह्लादादि महर्षि यह भी निश्चय किये हैं कि ब्रह्म समस्त जगत्का आत्मा तथा सर्व जगत् ब्रह्मका शरीर है, अतः शरीरके कथनसे शरीरीका भी कथन हो जाता है, जैसे—देवदत्तके कहनेसे देवदत्तके शरीर कथन होते हुए देवदत्तके शरीरान्तर्वर्त्ति चेतनका भी कथन हो जाता है। इन्हीं बातोंको विचार कर वामदेव महर्षि **अहं** शब्दसे अहं शब्दाभिमानी जीवको कहे हैं और उस चेतनका आत्मा परमात्माको निर्देश करके मनु सूर्यादि शब्दोंका ब्रह्मके साथ कथन किया है, अर्थात् ब्रह्मके साथ ऐक्य करके निर्देश करते हुए कहे हैं कि मैं[1] राजा मनु हुआ, हमी सूर्य हुए, हमी कक्षीवान ऋषि हैं, यह वामदेव महर्षिकी उक्ति है । सर्वत्र[2] व्याप्त होनेसे ही ब्रह्म आदिअन्त रहित है,सोई ब्रह्म मैं उपस्थित हूं, हमारेसे ही समस्त जगत् उत्पन्न है,हमी सब जगतरूप हूं, सनातन ब्रह्म मैं हूं,मेरे ही आधारमें अखिलब्रह्माण्ड स्थित है, इस प्रकार अग्निमें जलाये जाते समय श्रीप्रह्लादजी भी निर्देश किये है । अर्थात् सब चेतनाचेतनोंको ब्रह्मके साथ ऐक्य किये हैं, अभिप्राय यह है कि यावत् बुद्धि और शब्द (आकृति और नाम) से ग्रहणहोनेवाले घटमठकुशूलादि हैं उनका अपने व्यावहारि—

१ अहं मनुरभवं सूर्यश्च कक्षीवानृषिरस्मि। २ सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने ॥

कर्में प्रचलित होते हुए मुख्यतया ब्रह्मका ही प्रतिपादन है ऐसा श्रुति तथा महर्षिगण निर्देश कर निश्चय किये हैं। सब शब्दोंसे ब्रह्मका ही प्रतिपादन होता है,इस उक्त व्युत्पत्तिके ग्रहणका फल कहते है-इस उक्त उपनिषदविद्याको श्रद्धापूर्वक जो पुरुष साधन (सर्व जगतका परमात्मबुद्धिसे निरीक्षण) करेगा वह अकिञ्चन अर्थात् परमात्माके अतिरिक्त जिसको वह विवेकी परमकल्याण-रूपमुक्तिको प्राप्त होग ॥ ३ ॥

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः।

अत्र, ते, नारायणान्वितां	इस प्रश्नमें आपके लिये एक नारायण सम्बन्धी
गाथां, वर्णयिष्यामि	कथाका वर्णन करूंगा आप श्रवण करो, उसमें
ऋषेः, नारायणस्य	ऋषिवेषको धारण किये बदरिकाश्रमवासी नारायण भगवान्का
च नारदस्य, संवादं	और नारदऋषिके प्रश्नोत्तररूप संवाद (इतिहास) में कहूंगा।

विशदार्थः।

उक्त रीतिसे सब शब्दोंका मुख्यवृत्तिसे ब्रह्ममें सङ्गत होना अर्थात् सब शब्दोंसे ब्रह्मका कथन होना तथा सर्वका अन्तरात्मा परमदयालुजगत्का कारण मोक्ष देनेवाला ब्रह्म कहा गया है। अब उक्तार्थविषयक स्वबुद्धिसे उत्प्रेक्षा की हुई शंकाके दूर करनेके लिये मूर्तिको धारण कर वेदलोग उक्त अनुक्त विशेषणभूत गुणोंसे युक्त परमात्माकी स्तुति किये है, यह कहनेके लिये पुनः राजाके प्रश्नका उत्तर ऐतिहासिक संवादरूपसे कहते है-**अत्र ते वर्णयिष्यामि** इस श्लोकसे इस आपके प्रश्न तथा मेरे उत्तरके विषयमें एक श्रीनारदमहर्षिके प्रति संसारके प्रवर्त्तक श्रीनारायणभगवान्से कही हुई गाथाको मैं आपसे कहता हूं आप सावधान होकर श्रवण कीजिये। यदि कहो कि ये कौनसे नारायण हैं, क्या जो आकाशके समान सर्वत्र व्याप्त हैं अथवा कोई अवतार विशेष हैं और उस कथाका श्रोता कौन है ? ऐसी शंकामें कहते है कि ऋषिवेषधारी बदरिकाश्रमवासी परब्रह्म परमात्मा श्रीनारायण भगवानका प्रश्नोत्तररूप संवाद (इतिहास) मैं कहूंगा आप श्रवण करो ॥ ४ ॥

उक्त संवाद कहनेके लिये पूर्व नारदजीका नारायण भगवान्के आश्रममें आना वर्णन करते हैं।

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन् भगवत्प्रियः।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः ।

एकदा भगवत्प्रियः-एक समय भगवान्के प्रिय
नारदः लोकान् पर्यटन्-नारदमहर्षि लोकोंमें विचरण करते करते
सनातनमृषिं, द्रष्टुं-सनातनऋषि श्रीनारायणके दर्शनार्थ
नारायणाश्रमं ययौ-नारायणाश्रम (बदरीनारायण) को गये ॥ ५ ॥

नारायणऋषिका वर्णन करते हैं:-

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः ।

यः, अस्मिन्भारतवर्षे-जो श्रीनारायण भगवान् इस भारतवर्षमें
नृणां क्षेमाय, स्वस्तये-मनुष्योंके अभय होनेके लिये और मोक्षके लिये

आकल्पात्, धर्म-ज्ञानशमोपेतं तपः आस्थितः	इस कल्पके आरम्भसे, वर्ण और आश्रमके उचित धर्मसे सम्पन्न, चेतनाचेतनसे विलक्षण (मायाजीवके सजातीय भावसे रहित) स्वात्मज्ञान सम्पन्न शमदमादि गुणोंसे परिपूर्ण, स्वकीय आत्मस्वरूपके उपासनारूप तपमें अधिकार किये हैं ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः ।

हे कुरूद्वह, तत्र-हे कुरूद्वह ! उस बद्रीनारायणनामक आश्रममें
कलापग्रामवासिभिः-कलापग्रामनिवासी
ऋषिभिः परीतम्ः, उपविष्टम्-ऋषियोंसे चारों ओरसे घिरे मध्यमें विराजमान

प्रणतः, इदम् एव, अपृच्छत्	नारायणभगवान्को प्रणाम कर नारदऋषि यही प्रश्न किये हैं कि जो आप हमसे पूछ रहे हैं ॥ ७ ॥

तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः ।

जनलोकनिवासिनां,-जनलोकके निवासी

पूर्वेषां यो ब्रह्मवादः (आसीत्)	पूर्व ऋषि सनकादिक ज्ञानियोंका जो ब्रह्मके विषयमें विचार हुआ था
इदं ऋषीणां शृण्वतां, तस्मै	सोई इस संवादको ऋषियोंके श्रवण करते करते नारद ऋषिके लिये

भगवान् अवोचत्-भगवान् श्रीनारायण कहे हैं ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

स्वायंभुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्द्धरेतसाम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः ।

हे स्वायंभुव, मानसानां–हे नारद, ब्रह्माके मनसे उत्पन्न, ऊर्द्धरेतसां तत्रस्थानां–जन्मसे लेकर इन्द्रियजित, जनलोकमें रहनेवाले, मुनीनां, पुरा, जनलोके–सनकादिक मुनियोंका पहले जनलोकमें,

ब्रह्मसत्रम्, अभवत्–	परब्रह्मके कल्याणगुणोंका अनुभवरूप यज्ञ आरम्भ भया था ॥ ९ ॥

यदि आप कहें कि हम कहां थे और उक्त संवादको क्यों नहीं सुने ? ऐसी शंकामें 'श्वेतद्वीपम्' इसश्लोकमें कहते हैं:–

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ॥
तत्र हायमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥ १० ॥
(परिहारांश्च तान् सर्वान् वक्ष्येऽहं शृणु तेऽनघ)

अन्वयार्थः ।

तदीश्वरं द्रष्टुं–	उस समय श्वेतद्वीप निवासियोंका स्वामी होकर वहींपर विराजमान हमारी ही अनिरुद्धमूर्तिके दर्शन करनेको
त्वयि श्वेतद्वीपम्	आपके श्वेतद्वीपको
गतवति, ब्रह्मवादः	जानेपर, सनकादिकोंका उक्त संवाद
सुसंवृतः यत्र	आरम्भ हुआ था, जिस ब्रह्मसंवादमें
श्रुतयः शेरते	सर्व श्रुतियां वञ्चनादि भयरहित एकाकार होकर ब्रह्मके विषयमें सुखपूर्वक वर्त्तती हैं,
तत्र हा अयं प्रश्नः अभूत्	वहां पर ऋषियोंका इसी अर्थविषयका यही प्रसिद्ध प्रश्न हुआ था कि
यं मां त्वम् अनुपृच्छसि	जो मेरे प्रति पूँछनेके योग्य पूँछ रहे हो (अतः आपकी बुद्धिकी कुशलताका धन्यवाद है !) ॥ १० ॥
हे अनघ, तान् सर्वान्, परिहारान्	सो हे अनघ ! उन प्रश्नोंके सम्पूर्ण परिहारोंको
ते अहं वक्ष्ये, (त्वं) शृणु	आपके लिये मैं कहता हूँ आप श्रवण करो ॥

यदि कहो कि उस ब्रह्मसत्रमें कौन वक्ता था, श्रोता कौन थे, ब्रह्मसत्रका क्या लक्ष्य है ? इसको 'तुल्यश्रुत' श्लोकसे कहते हैं:-

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ।

तुल्यश्रुत तपःशीलाः,	यद्यपि शास्त्रश्रवणसे उत्पन्नज्ञान उपवासादि तप अथवा ब्रह्मोपासनात्मक ज्ञान और शील स्वभावमें सभी बराबर हैं।
तुल्यस्वीयारिमध्यमाः	और अपना शत्रु तथा उदासीनतामें भी चारों समान ही हैं, क्योंकि यह सर्व जगत् ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्मसे ही यह जगत् उत्पन्न होता है, ब्रह्ममें ही पालन होता ब्रह्ममें ही लय होता है। 'ब्रह्मकी उपासना करना चाहिये' इस श्रुतिके अनुसार सर्वका कारण ब्रह्मको जानकर उसीकी उपासनामें परायण होनेसे भेद-रहित चारों समान हैं, इससे सब जनोंके वक्तृताकी समर्थता सूचित है।
अपि एकं प्रवचनं	तथापि एक सनन्दनको सबोंने वक्ता
चक्रुः, अपरे शुश्रूषवः आसन्	बनाया और सब सनकादिक श्रवणेच्छु होकर श्रोता बन गये, इसीका नाम ब्रह्मसत्र है कि सभी सब तत्ववेत्ता होकर भी परमात्माका गुणानुभव करनेके लिये एकको उपदेशक बनाकर और सब चुपचाप बैठकर एकाग्रचित्तसे श्रवण करें ॥ ११ ॥

नारायण नारदजीसे कहते हैं कि प्रश्न तो जो आप किये हो सोई, अतः प्रश्नको न कहकर सनन्दन उत्तर देनेके लिये श्रुति स्तुतिको कहते हैं:-

सनन्दन उवाच।

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः।
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः।

स्वसृष्टम् इदम् आपीय शक्तिभिः	अपनेसे ही रचना किये हुए इस माया जीवात्मक जगतका संसार करके सूक्ष्म माया जीव कालरूप शक्तियोंके
सह शयानम्	सहित प्रलयकालमें शेषशय्यापर मानो शयन करनेवाले अर्थात् प्रकृति पुरुषोंको विभागके अयोग्यकर निरवधिक अपने आनन्दका अनुभव कर वर्त्तमान

परं तदन्ते श्रुतयः	परमात्माको लयके अन्तमें (सृष्टिकालमें) परमात्माके श्वासभूत मूर्तिको धारण किये वेदाभिमानी देवतागण
तल्लिङ्गैः बोधया-ञ्चक्रुः	परमात्माके असाधारण धर्मके प्रकाश करनेवाले वचनोंसे मानो जगाते हैं ऐसी स्तुति करते हैं ॥ १२ ॥

यथा शयानं सम्म्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः ।

यथा अनुजीविनः	जैसे चक्रवर्त्ती राजाके भृत्य और
वन्दिनः, प्रत्यूषे अभ्येत्य	स्तुतिपाठ करनेवाले प्रातःकालमें आकर
सुश्लोकैः पराक्रमैः	प्रशंसा करनेके योग्य उसके पराक्रमको प्रकाश करनेवाली स्तुतियोंसे
शयानं साम्म्राजं बोधयन्ति	सोये हुए चक्रवर्त्ती राजाको जगाते हैं। वैसे ही श्रुतियां परमात्माको जगाती है ॥ १३ ॥

श्रुतय ऊचुः ।

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुण त्वमसियदा-
त्मना समवरुद्ध समस्तभगः ॥ अगजगदोकसाम-
खिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिदजयाऽऽत्मनानुचरतो-
ऽनुचरेन्निगमः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः ।

हे जय, त्वं जय	हे सर्वके विजय करनेवाले भगवन्! आप उत्कर्षको प्राप्त हो। (यदि कहो कि हमको स्वाभाविक असीम उत्कर्ष प्राप्त है पुनः कौनसे उत्कर्ष मनाते हैं इसमें कहते हैं-
अजां जहि	मायाको नाश कीजिये (आपमें लीन जीवोंके संसारका कारण प्रकृतिके सम्बन्धका छुड़ानेसे जो कभी नहीं मिल है ऐसा परमकारुण्यका कोई एक उत्कर्ष प्राप्त होगा) यदि कहो कि मैं भी तो मायाके वशीभूत हूँ इस शंकामें कहते कि-
हे अजित	आप अजित हो, क्योंकि सबको जीतनेवाली प्रकृतिको भी जीतकर वशी किये हो यदि कहो कि अनादिकालके अपराधी जीवोंसे मायाका सम्बन्ध क्यों मुक्त है? इसमें कहते हैं-

हे दोषगृभीत-गुण	आप दोषोंके रहनेपर भी गुणोंके ग्रहण करनेवाले हो, यदि कहो कि मायाके छुटाने योग्य ज्ञान-शक्तिसे मैं रहित हूँ तब कैसे छुटावे ? इसमें कहते हैं कि-
आत्मना समवरुद्ध- समस्तभगः असि	आप अपने स्वरूपसे ही ऐश्वर्य१वीर्य २ यश ३श्री ४ ज्ञान ५ विज्ञ ६ इन छहों ऐश्वर्योंका स्वीकार किये हो, अर्थात् संकोचरहित ज्ञान ऐश्वर्य और वात्सल्यके सागर हो । यदि कहो कि जो मायाके सम्बन्धका उपार्जन किया है वही छुड़ावे मैं कैसे मुक्त कर सकता हूँ सो कहते हैं-
हे अगजगदोकसामाखिलशक्त्यवबोधक	प्रलयकालमें आपमें लीन चराचर प्राणियोंके सम्पूर्ण शक्तियोंके उद्बोधन करनेवाले आप ही हो, अतः मायासे मुक्त कीजिये, यदि कहो कि हमको वेद प्रतिपादन करता है, अतः जैसे सर्व देवादि हैं वैसा मैं भी हूँ, अतः नहीं छूट सकते इस शंकामें कहते हैं-
क्वचित् अजया आत्मना च चरतः ते निगमः अनुचरेत्	जब कभी माया और जीव मिश्रित स्थूल शरीरभूत जगत् रूपसे प्रकाशमान होनेपर आपको वेद प्रतिपादन करता है, अतएव आप मायाको छुटा सकते हैं ।

विशदार्थः ।

परमात्माके स्तुतिभूत श्रीवेदपुरुषके मुखारविन्दसे निर्गलित २८ श्लोक 'जय जय' यहांसे लेकर कहते हैं:-हे जय ! सर्वके विजय करनेवाले परमात्मन् ! आप उत्कर्षको प्राप्त हो,यदि कहो कि हमको स्वाभाविक हमारी इच्छासे ही सम्पूर्ण पदार्थ स्वतः प्राप्त हैं, पुनः कौन अनुपलब्ध पदार्थ है कि जिसके प्राप्त्यर्थ तुम उत्कर्ष मना रहे हो. इसका उत्तर **अजां जहि** इस पदसे कहते है कि आप दुर्निवार्य अपनी मायासे जीवोंको छुड़ाइये, क्योंकि लयकालमें आप प्रलीन जीवोंमें अनादिकालसे लगा हुआ संसारका कारणभूत प्रकृतिका सम्बन्ध छुड़ानेसे आपको अत्यन्त दयाका उत्कर्ष जो पूर्वमें नहीं उपलब्ध हुआ है वह प्राप्त होगा, यदि कहो कि मैं भी तो प्रकृतिके वशीभूत हूँ, पुनः उस मायाको कैसे मोचन कर सकता हूँ ? इस शंकाका उत्तर **हे अजित** ! इस सम्बोधनसे देते है-हे अजित ! आप अखिल संसारका विजय करनेवाली मायासे भी अजेय हो,अर्थात् मायाको भी अपने वशी किये हो, यदि कहो कि अनादिकालसे अपराधी जीवोंके प्रकृतिका सम्बन्ध किस व्याजसे छुडावें तो इस प्रश्नका उत्तर **दोषगृभीतगुण** इस सम्बोधनसे

---

१ "ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानविज्ञानयोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥"

कहते हैं—हे दोषगृभीतगुण! दोषोंके रहनेपर भी आप गुणोंको ग्रहण करनेवाले हो अर्थात् याद्द-च्छिक, प्रासंगिक, आनुषंगिक आदि गुणोंमेंसे अपराधी जनोंके किसी एक गुणका लेश लेकर भी आप अनुग्रह करते हो, **"दोषगृभीतगुणाम्"** ऐसा भी पाठ भेद है, इस पाठभेदमें शंका करते हैं कि यदि कहो कि अनेकानेक भोगके योग्य तथा भोग किये जानेवाले दोनों पदार्थोंके साधन करनेवाली महागुणवती प्रकृतिके मुक्त करनेकी क्यों प्रार्थना करते हो ? इस प्रश्नमें **'दोषगृभीतगुणाम्'** इस पदको मायाका विशेषण करके उत्तर देते हैं-कि जीवोंके दोषोंको उत्पन्न करनेवाले सत्त्व रज तम गुणोंका आश्रयण करने वाली अर्थात् जीवोंके संसारके कारण भूत सत्त्व रज तम आदि गुणोंका आश्रयण करनेवाली प्रकृतिको नष्ट कर जीवोंको मुक्त कीजिये, यदि कहें कि अनादिकालसे लगे जीवोंके प्रकृति सम्बन्धका छुड़ानेके योग्य ज्ञान शक्तिसे मैं रहित हूं अतः कैसे मुक्त कर सकता हूँ ? इस शंकामें **"समवरुद्धसमस्तभगः"** इस पदसे कहते हैं कि आप अपने स्वरूपसे ही छहों ऐश्वर्यों (ऐश्वर्य १ वीर्य २ यश ३ श्री ४ ज्ञान ५ विज्ञान ६) का स्वीकार किये हैं, अर्थात् संकोचरहित ज्ञान ऐश्वर्य शक्तिमान् होते हुए वात्सा-ल्यादिगुणोंके महार्णव हैं अतः प्रकृतिसे चेतनोंको मुक्त कीजिये। यदि कहो कि जो अपनी कर्त्त-व्यतासे प्रकृति सम्बन्धका उपार्जन किये हैं वे निज कर्त्तव्यसे ही प्रकृतिको पृथक् कर सकते हैं हमको क्या जरूरत पड़ी है ? इस शंकाका उत्तर करनेके लिये कहते हैं कि आप ही माया जीव और काल (समय) समुदायका शरीरी होते हुए पुनः उसी शरीरके वेषसे सर्व जगतका कारण होनेसे ही जीवोंमें मायाका सम्बन्ध लगाते हो। इस बातके प्रकाशार्थ कहते हैं कि अप्रगट सामार्थ्य माया, जीव और कालको प्रलयदशामें परमात्माके विशेषणभूत सूक्ष्म शरीराकार होनेसे ही संसारका कार्य्य करनेमें सर्वथा असमर्थ है। यदि प्रकृति पुरुषादिकोंको सर्व सामर्थ्यवान् मानेंगे तो सभी सामर्थ्ययुक्त होनेसे स्वतः सर्वदा अपने २ कार्योंमें तत्पर रहेंगे, अतः प्रलय होना न सिद्ध होगा, अतः प्रकृतिपुरुषादिको अपने २ कार्यमें नियुक्त कर उनके सामर्थ्यके प्रकाशक आप ही हो, इस विषयको लेकर उपरोक्त शंकाके उत्तर प्रदा-नार्थ **"अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधकः"** यह सम्बोधन करते हैं। चर अचरके शरीररूपसे विकारको प्राप्त मायाके गुणोंका स्थान तथा मायाके गुणोंके स्थान समान शरीरवाले ब्रह्मादि समस्त जीवोंके अनादिकालीन कर्मवश अपने २ कार्यके लिये

---

१ याद्दच्छिक गुणका यह स्वरूप है कि जैसे किसी अधर्मीने अपने कार्यसाधनके लिये एकान्तमें जाकर मकान बनाया, उस मकानमें दैवात् भगवद्भक्त जाकर एकान्त स्थान देखकर ठहर गये, सो यह महात्माओंका वास याद्दच्छिक गुण हो गया, इतनेमें ही परमात्मा गुण ग्रहण करता है कि मेरे भक्तोंके निवासार्थ बनाया है। २ प्रासङ्गिक यह है कि जैसे अजामिल अपने पुत्रका नारायण नाम लेकर पुकारा किन्तु प्रसङ्गवश परमात्माका भी नारायण नामसे आह्वान हो गया, यह प्रासंगिक गुण है। ३ आनुषंगिक गुण यह है कि जैसे कोई अज्ञानी भगवानके मूर्तियोंका दर्शन अपने हार्दिक प्रेमसे नहीं करता था किन्तु अपने किसी सज्जन मित्रसे बलात् भगवानका दर्शन कराया, इसीमें परमात्मा मान लेता है कि हमारा दर्शन किया।

समुत्कण्ठित जो सर्व चेतनोंकी शक्तियां, उनका प्रकाश करनेवाले आप ही हो, क्योंकि यह जीवगण प्रलयकालमें चेतनशक्तिसे रहित होनेके कारण आपमें लीन रहते हैं अतः कार्यभूत सर्व जगत्का कारण होनेसे समस्त कार्यका वेद आपमें अपृथक् प्रतिपादन करता है अर्थात् कार्य कारण आपको ही कहता है। इस बातका "**अजयाऽऽत्मना च चरतः**" इस पदसे कहते हैं। (अजया और आत्मना इन पदोंमें सहादि अर्थमें तृतीया विभक्ति है, किन्तु वह तृतीया '**देवदत्तेन सह यज्ञदत्तः**' ऐसी नहीं है किन्तु विशेषणविशेष्यभावसे है) कदाचित् माया और जीवरूप विशेषण युक्त होकर आप जगत् रूपसे विकारका आश्रयण कर स्थित होते हैं तभी आपका वेद प्रतिपादन करता है, केवल इतना ही वेद नहीं कहता, किन्तु यह भी कहता है कि आप उक्त जड़चेतनोंके अन्तः प्रेरक होकर भी रहते हैं। यद्यपि जड़ चेतन वाचकशब्दोंका समुदायात्मक वेद हैं तथापि आपसे ही प्रेरित होकर आपका प्रतिपादन करते हैं। इससे "**ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये**" इस श्लोकमें किये हुए राजाके प्रश्नका उत्तर हो चुका। माया और जीव विशेषणयुक्त होनेसे ही आपमें कारणत्व है और मोक्षप्रदत्व भी और जीवोंके मोक्षप्रदानके योग्य गुणोंसे पूर्ण भी है और आप शास्त्रसे प्रमाणित भी हो, अतः समस्त जीवोंको प्रकृतिसे मुक्त कीजिये। यदि कहो कि स्तुतिके समयमें तथा प्रलयकालमें जीवोंके कोई स्थावर जङ्गम शरीर नहीं था, पुनः जीवोंसे कौनसी माया छुटनेको वेदस्तुति करता है? इस शंकामें कहते हैं कि जीवोंके मायासम्बन्धी स्थावर जंगम शरीर न होनेपर भी शीघ्र होनेवाली सृष्टिको देखकर पूर्व कल्पमें हुई सृष्टिको स्मरण करके यह स्तुति करनेका अभिप्राय है, कारण कि आपका वेदप्रतिपादन करता है, यह परोक्ष निर्देश है, अर्थात् जो सृष्टि प्रत्यक्ष नहीं दिखा रही है उसका कल्पान्तरका स्मरण कर स्तुति कर ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। यदि कहो कि वेद ही तो स्तुति करता है पुनः वेद ही कहता है कि ब्रह्मको वेद प्रतिपादन करता है सो ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि स्तुतिका संसारी जीवमें तात्पर्य्य है, अर्थात् कोई जीव परमात्माकी स्तुति करता है और वेदका प्रमाण देकर कहता है कि ऐसा ही वेद प्रमाण करता है तथा स्तुति करता है। कदाचित् माया तथा जीवके साथ विहार करनेमें वेद आपका प्रतिपादन करता है, इससे यह बात सूचित होती है कि मायाके संबन्धसे छुटानेकी शक्ति परमात्मामें ही है। तथा आत्माके साथ लगा हुआ चेतनका नित्य सम्बन्ध है, इस ज्ञानके उत्पन्नार्थ अर्थात् जीवोंको यह ज्ञान हो जावे कि परमात्माके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध इस तरह है कि मैं परमात्माका शरीर हूं और ब्रह्म मेरा अन्तरात्मा है, इस विषयके ज्ञापनार्थ वेद स्तुति करता है। यदि कहो कि निर्गुण निर्विकार ब्रह्ममें सर्वजगत् कारण होना सङ्गत नहीं हो सकता सो तो ठीक है; किन्तु मैं विशेषणयुक्त ब्रह्म मानता हूं, क्योंकि जड़चेतन युक्त कार्यभूत जगत्के देखनेसे ज्ञात होता है कि जड़चेतनयुक्त कारण ब्रह्मके होनेसे ही जड़चेतनयुक्त कार्यरूप जगत् है, अतएव जड़चेतनयुक्त कार्यभूत जगत्का जड़चेतनविशिष्ट ब्रह्मके साथ एकत्व हो सकता है, अर्थात् कार्य कारण एक ही पदार्थ है। जैसे कि मिट्टीका कार्य घट मिट्टीसे दूसरा नहीं है किन्तु मिट्टी

ही है । अतः समस्त जड़ चेतनात्मक जगत्का ब्रह्मके साथ शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध है, अर्थात् समस्त जगत् शरीर है और ब्रह्म आत्मा है । अतः ब्रह्मके शरीरभूत विशेषण जडचेतनवाचक शब्दोंसे विशेष्यरूप परमात्मातकका कथन होता है, जैसे देवदत्तके कथनसे देवदत्तके शरीर और आत्मा दोनोंका कथन होता है, कारण कि विना शरीरके आत्माका कथन नहीं हो सकता वैसा ही जगत्में जो कुछ नाम है उनके कथनसे मुख्य वृत्तिसे ही ब्रह्मका कथन होता है ॥ १४ ॥

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया,
यत उदयास्तमयौ विकृते मृदिवाऽविकृतात ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं,
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः ।

अवशेषतया	सर्व ब्रह्माण्डका संहार कर प्रलयकालमें सूक्ष्म मायाजीव-विशिष्ट एक कारण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है ।
उपलब्धम्	इसीसे सृष्टिकालमें वही ब्रह्मदेव मनुष्यादि नामरूप युक्त स्थूल मायाजीवरूपसे प्रकाशित होता है ।
एतत् बृहत् अवयन्ति	अत एव इस कालमें मायाजीवरूपसे जो यह जगत् दीख रहा है सो ब्रह्म ही है ऐसा जानते हैं ।
यतः विकृतेः	क्योंकि जिस कारणसे जिस कार्यकी उत्पत्ति होती है उसीमें उस कार्यका लय होता है ।
अविकृतात्,	जैसे विकाररहित मिट्टीके पिण्डसे उत्पन्न घट शरावादि कार्य मिट्टीमें ही लय होते हैं ।
मृत् इव,	अतः घट शरावादि मिट्टी ही हैं, ऐसा ही ब्रह्मसे उत्पन्न जगत् ब्रह्ममें लय होनेसे ब्रह्म ही है ।

अतः, ऋषयः-इसीसे ऋषिजन तथा वेदगण

मनोवचनाचरितं	मनसे किये हुए ध्यान वचनसे की हुई स्तुति आदि कैंकर्य चेष्टाओंका
त्वयि अदधुः,	आपमें ही अर्पण किया है अर्थात् सर्वकर्म आपके ही अर्थ किये हैं, क्योंकि

भुवि निहितानि नृणां पदानि कथम् अयथा भवन्ति,	पृथिवीमें धरे हुए मनुष्योंके पांव कैसे निष्फल हो सकते हैं, और आकाशमें पांव धरनेसे पतन अवश्य होगा, ऐसा ही अन्य देवोंकी तथा संसारी विषयोंकी उपासनासे पतन निष्फल होगा और आपकी उपासना कभी निष्फल नहीं होती अतः ऋषि लोग आपके ही लिये सर्व कर्म अर्पण करते हैं ।

विशदार्थः ।

कार्य कारणसे भिन्न पदार्थ नहीं है इस विषयको दृष्टान्तरूपसे कहते हुए यह भी कहते है कि मुमुक्षु लोगोंको कारण ही नित्य उपासनीय है, उस बातको **बृहदुपलब्ध,** इस श्लोकसे कहते है । पृथिवी आदि तत्त्वोंको लेकर अखिल ब्रह्माण्डका संहार कर प्रलयकालमें सूक्ष्म माया जीव रूप विशेषण युक्त एक कारण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है,अत एव जगत्का कारण वही ब्रह्म सृष्टिकालमें देव मनुष्यादि नाम रूप सम्पन्न स्थूल माया जीव विशेषण युक्त रूपसे आविर्भूत उत्पन्न इस जगत्को ब्रह्म निश्चयकर ब्रह्म ही जानते है, क्योंकि श्रुतियां कहती हैं कि[1] हे सौम्य ! इस जगत्का मूल कारण ब्रह्म है समस्त प्रजा ब्रह्मका निवासभूत है और ब्रह्ममें ही स्थित है अतः नित्य है, यह[2] सर्व जगत् ब्रह्मात्मक है , यह[3] दृश्यमान जगत् ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्मसे ही उत्पत्ति पालनको प्राप्त होकर ब्रह्ममें ही लय होता है अतः ब्रह्म उपासनीय है, इत्यादि वेदान्ती लोग ब्रह्मका शरीर ही इस जगत्का कहते हुए ब्रह्म कहे है **"अवस्यस्त्यवशेषतया"** इस पाठभेदका अर्थ है कि, अपनेसे ही उत्पन्न इस जगत्का स्थिति कालमें पालन करता है और अन्त कालमें लय करता है, और अर्थ उपरोक्त है **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्"** यह श्रुति जगत्का ब्रह्म कारणात्मक निर्देश करती है, क्योंकि जिस कार्यकी जिस कारणसे उत्पत्ति होती है और जिसमें लय होता है वह कार्यकारणरूप ही देखा जाता है अर्थात् जैसा कारण होवे वैसा ही कार्य होता है, जैसे पूर्वमें विकार रहित कारण मिट्टीके पिण्डसे उत्पन्न घट शरावादि कार्य मिट्टीमें ही लय होते है अतः मिट्टीसे भिन्न नहीं देखे जाते किन्तु मिट्टी ही देखे जाते है, ऐसा ही प्रलयकालमें देव मनुष्य आदि नामरूपके विभागके अयोग्य मायाजीवविशिष्ट कारणरूप ब्रह्मसे सृष्टिकालमें देव मनुष्यादि नामरूप विभागके योग्य स्थूल मायाजीवविशिष्ट कार्यरूप ब्रह्मकी उत्पत्ति है, और प्रलय कालमें उसी कारणरूप ब्रह्ममें इस

---

१ सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः । २ ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् । ३ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् शान्तमुपासीत ।

कार्यरूप प्रपञ्च शरीररूपी ब्रह्मका लय होता है अत एव उक्त कार्यरूप और उक्त कारणरूप ब्रह्म ही है किन्तु कार्यकारणसे भिन्न नहीं है, अर्थात् प्रलयकालावस्थित सूक्ष्म चेतनाचेतन (मायाजीव) विशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकालमे स्थूल चेतनाचेतन विशिष्ट होकर जगत्‌रूपसे ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है, श्रुति भी कहती है,हे सौम्य[१] जैसे एक ही कारणरूप मिट्टीके पिण्डका परिचय होनेसे घटशरावादि सभी कार्योंका ज्ञान हो जाता है, यह श्रुति भी कार्य कारणको भिन्न नहीं कहकर दोनोंको एक ही कहती है, तिसपर भी घटसे जल ले आवो इत्यादि वचनोंके व्यवहारार्थ मिट्टीके पिण्डका ही घट शरावादि नामोंको कथनकर कारण मिट्टीके पिण्डसे घटादिकोंकी अनन्यता कही गई है, इसी लिये सर्व जगत्‌के परम कारणस्वरूप आपके ही विषयमें ऋषियोंनें मनसे किये हुए ध्यान वचनसे स्तुति आदि चेष्टाओंको अर्पण किये है अर्थात् ऋषियोंने आपका ही ध्यान आपकी ही स्तुति और आपके ही लिये कर्म भी किया है, क्योंकि आकाशमें पांव धरनेपर पतन होना निष्फल (निवारण) नहीं होता है, और पृथिवीपर पांव धरनेसे पतनकी सम्भावना ही नहीं होती अत एव पृथिवीमें पांव धरना निष्फल नहीं होता है, ऐसा ही मन वचन शरीरसे किये ध्यान स्तुति आराधनरूप भजन कभी व्यर्थ नहीं होते और सांसारिक तापोंको भी दूर (निवारण) करते हैं और संसारके विषयोंकी तथा अन्य देवादिकोंकी ध्यान स्तुति पुनः २ पतनके कारण होनेसे निष्फल है, अतः ऋषिलोग उक्त चेष्टित आपहीमें समर्पण करते हैं, अथवा आप समस्त जगत्‌का कारण है अतः जगत् आपसे भिन्न नहीं है, अत एव सभी जगत्‌विषयक वैदिक शब्दतात्पर्य और शक्ति आपमें ही सङ्गत होते हैं अर्थात् आप परमकारण हो इसलिये वेदोंने मनके तात्पर्यका और चेतनाचेतन प्रतिपादक वचनोंकी प्रतिपादनरूप शक्तिका आपके ही विषयमें निश्चय किया है, इस बातको कहते हैं कि **"अत ऋषयो दधुः तदुक्तं ऋषिणा"** इत्यादिकमें ऋषि शब्दका वेदमें पाठ होनेसे ऋषयः यह वेदवाचक है, इससे वेद लोग मनसे आचरित तात्पर्य (जल ले आना आदि) वचनसे कहे गये घट आदि नाम इन सबोंकी शक्ति आपमें ही निश्चय किये हैं, अतः उक्त चेष्टित आपहीमें धारण करते है (समर्पण) करते है, यदि कहो कि, मायाजीव मिश्रित जगत्‌में प्रचलित शब्दोंका देवदत्तके कहनेसे देवदत्तका, घटके कहनेसे घटका ही ज्ञान होता है पुनः देवदत्तादि चैतनाचेतन शब्दोंके कथनसे हमारा कथन किस प्रकार होगा ऐसी शंकाको दृष्टान्तरूपसे कहते हैं, जैसे प्रासाद (अँटा) तथा शय्यापर धरे हुए मनुष्यके पांव पृथिवीमें नहीं धरे हैं यह कैसे हो सकेगा, ऐसा कभी नहीं हो सकता क्योंकि प्रासाद और शय्याको धारण करनेवाली तो पृथिवी ही है अतः कहीं भी पांव धरा जावै किन्तु वह पृथिवीपर ही धरा कहा जाता है, ऐसा ही मायाजीवके आप परमकारण और अन्तर्यामी अन्तरात्मा हैं तथा देवदत्तादि नाम रूपके धारक और निर्वाहक होते हुए सबोके शरीरी है और समस्त जगत् आपका शरीर है

१ यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वमृन्मयं विज्ञात भवति ।

अत एव वेद लोग सब नाम शब्दोंसे आपका ही प्रतिपादन करते हैं । क्योंकि अभिन्नः विशेषण वाचक शब्दोंके द्वारा आकृत्याधिकरणन्यायसे विशेष्य पर्यन्तका बोध होता है अतः माया जीव आपके अभिन्न सिद्ध विशेषण है इससे उनके नामसे आपका मुख्यवृत्तिसे ही वेद गण प्रतिपादन करते है । आकृत्यधिकरणन्याय यह है कि जैसे नीलोत्पलं कहनेसे अधिकरण उत्पन्न विशेष्य है नील आकृति विशेषण है किन्तु नील आकृति विशेषण उत्पल अधिकरणसे पृथक् नहीं है ऐसा ही चेतनाचेतन मिश्रित जगत् विशेषण आपसे भिन्न नहीं है अत एव "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वेद आपका प्रतिपादन मुख्यवृत्तिसे करते है ॥ १९ ॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ॥
किमुत पुनः स्वधाम विधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः ।

हे त्र्यधिपते-इति	हे जगत्के उत्पत्ति, पालन, संहार करनेवाले इसी कारणसे
सूरयः-तव-	भक्तलोग आपके
अखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिम्-अवगाह्य	सर्वलोकोंके पाप (अनादिकालिककर्मवासना) दूर (नष्ट) करनेवाले कथारूपी अमृतसमुद्रमें, (अहर्निशि) स्नान (गान) करके
तपांसि-जहुः	(आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक) तापोंका परित्याग किये हैं
हे परम-ये	हे सर्वोत्कृष्ट जे लोग (आपनस्वरूपज्ञानहींसे आपके स्वरूपके तत्त्वज्ञानसे)
विधुताशयकालगुणाः (सन्तः)	दूर करदिया गया है कामक्रोधादि रागद्वेषादि और जरा मरण क्षुत्पिपासादिसे रहित होकर
अजस्रसुखानुभवम्-	निरन्तर परम ज्ञानानन्दको देनेवाले
ते-पदं-भजन्ति-	आपके, चरणकमलोंको भजन सेवन करते हैं
तेषां, पुनः, किमुत-	उन लोगोंकी क्या प्रशंसा की जावै

विशदार्थः ।

पूर्व श्लोकके 'अत ऋषयः' इस पदसे लेकर उसका तात्पर्य कैमुतिकन्याय (जिस कार्यको छोटा मनुष्य कर सकता है उसको बडे लोगोंके करनेका क्या कहना है यह कैमुतिकन्याय है)इसे इस श्लोकमे सङ्गत किये है कि जिस परमात्माके लिये ऋषि और वेद लोग स्वतः अपना कर्त्तव्य अर्पण कर संसारसे मुक्त हुए हैं पुनः उस परमात्माके ध्यान पूजन संसारी ताप छूटनेमें क्या आश्चर्य्य है इस विषयको कहे है। इस (इति तव सूरयः) श्लोकसे ससारसे मुक्त होनेवालोके लिये जगत्का कारण परमात्माकी उपासना कैमुतिकन्यायसे कहते हैं। हे जगत्के उत्पत्ति,पालन, प्रलय करनेवाले, सर्व जगत्के कारण होने ही से विवेकी लोग, सुनने,गान करनेवाले सम्पूर्ण लोकोंके पापके नाश करनेमे कुशल आपके कथारूपी समुद्रमे गोता लगाकर दैहिक दैविक भौतिक तापोको दूर करते है। जो आपकी कथा श्रवण कर उक्त तीनों तापोंसे मुक्त हो जाते है पुनः जो आपकी उपासना ध्यानमें तत्पर है उनको संसारसे मुक्त होनेमें क्या कहना है। इसीको पुनः कहते हैं कि हे सर्वोत्तम सर्व व्यापक अखिल कल्याणगुणयुक्त, (मूलके स्वधाम, शब्दमें 'स्व' शब्द परमात्माका वाचक है) जो लोग आपके स्वरूपको तत्त्वज्ञान होनेसे काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य और राग द्वेष तथा कालसे होनेवाले जरा मरण भूंख पियास आदिसे रहित होकर वे लोग निरन्तर ज्ञानस्वरूपी आनन्दके देनेवाले पर (स्वरूप) को उपासना ध्यान समाधिसे जे भजन (साक्षात्कार) करते है उनको उक्त तापोंसे मुक्त होनेमे करना ही क्या है ॥ १६ ॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधाः,
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहतः ॥
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः ।

ते-अनुविधाः	(चेतन लोग) आपके सेवन पूजन आराधन उपासनाके योग्य शरीर पाकर पुनः आपको छोडकर
यदि-असुभृतः	यदि इन्द्रियोंके पालन पोषणमें संसक्त होकर इन्द्रिय सुख भोगने लगे
(तर्हि) दृतयः इव	तो वे लोग लोहकारके भाथीके धौकनीके समान

श्वसन्ति	श्वास लेते हैं (वे लोग जीवन व्यर्थ कर वृथा श्वास लेते हैं)
यत् (यस्य) अनुग्रहतः-(क्योंकि) जिसके अनुग्रहसे	
महद् अहम् आदयः	महत्तत्व अहंकार रज तम सत् शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदिक
अण्डम्-असृजन्-	(इस) ब्रह्माण्डको उत्पन्न किया
अन्नमयादिषु-यः	(और) अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय इस तैत्तिरीय उपनिषदके पञ्चकोशमें
चरमः-पुरुषविधः	जो अन्तिम आनन्दमय है (और अन्नमयादिकमें) पुरुषाकाररूपसे निरूपण किया गया है
अत्र यः-अन्वयः (अन्नमयादिषु अन्तर्यामितयानुगतः)	(और) इन अन्नमयादिक पञ्चकोशोंमें जो अन्वित होकर रहता है अर्थात् सबोंके अन्तर्यामी होकर अनुवर्त्तमान रहता है

विशदार्थः।

अब जो परमात्माके भजनसे विमुख हैं उनका संसारमें जन्म व्यर्थ है इस बातको कहते हैं। जो भजन पूजा ध्यान समाधि उपासनाके योग्य शरीर पाकर भी आपको छोडकर यदि शरीर इन्द्रियोंके पालन पोषणमें लिप्त होकर इन्द्रियोंके विषय वासना रूप सुख भोगनेमें पड़ गये तो वे लोग लोहारकी धौकनीके समान वृथा ही श्वास लेते हैं जैसे लोहारकी धौकनी वायुसे पूरित होकर श्वास लेती है वैसा ही उन भगवद्विमुखोंका वृथा श्वास लेना है। यदि कहो कि अन्य देवोंकी उपासना करके जीवन सफल करेंगे सो ठीक नहीं क्योंकि पूर्व श्लोकके 'अतः ऋषय' इत्यादि पदसे दो बात सूचित होती हैं कि भगवद्भजनसेवन कभी व्यर्थ नहीं होता और अन्यदेवोंकी उपासना व्यर्थ होकर पुनः संसारकारक है। यदि कहो कि मैं जगत्का कारण हूँ तो मुमुक्षु लोगोंकी उपासनाकी सिद्धिमें कोई क्षति नहीं है कि प्रथम हमारेमें कारणत्व ही नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि जड भूत प्रधान (प्रकृति) ही बुद्धि अहंकार आदि रूपसे विकार स्वभाव युक्त होनेसे जगत्का कारण है।और जीवोंके भोगनेके योग्य सत्त्व रज तम ये तीनों गुणोंसे युक्त विकार अवस्थामें वर्त्तमान जगत् रूप कार्यका कारण प्रधान ही है। क्योंकि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। अतएव सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंसे युक्त प्रधान कारण है,उसी तरह त्रिगुणमय कार्यरूप भी जगत् है (जब उक्त त्रिगुण विकारको प्राप्त होंगे तब सृष्टिकी उत्पत्ति होगी,

जब न्यूनाधिक रहेंगे तब जगत्की स्थिति रहेगी और जब तीनों गुण बराबर हो जावेंगे तब प्रलय हो जावेगी। जैसे शरीरमें जबतक कफ वात पित्त न्यूनाधिक रहेंगे तबतक नष्ट न होगा. जिस रोज तीनों बराबर हो जावेंगे उसी रोज नष्ट होगा) कार्य कारणके एक होनेमें मिट्टी दृष्टान्त है जैसे मिट्टीके कार्य घट दीप आदि मिट्टी ही हैं, अतः जगत्का प्रधान (प्रकृति) कारण है, इस शंकामें ब्रह्मसूत्रके इच्छत्याधिकरणमें पूर्वपक्ष करनेवाले शंकाके परिहारानुकूल उत्तर करते हैं।महदहमादयः इस पदसे लेकर, यदनुग्रहतः इस पद पर्यन्त पूर्वपक्षका उत्तर है। जिसके अनुग्रह अर्थात् ऐकोऽहं बहु स्याम्, एक मै अनेक हूँगा इस इच्छात्मक संकल्पसे जो लयकालमें नामरूपके सत्ता शक्तिसे होना था वैसा सृष्टिकालमें पुनः पाकर शक्तीको पाकर सशरीराकार होकर पुनः उस शरीरमें चेतनका प्रवेशको पानेसे महत् अहंकार सत्त्व, रज, तम शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदिक ब्रह्माण्डको उत्पन्न करते हैं। जडभूत प्रकृतिमें इच्छात्मक अनुग्रह शक्ति न होनेसे जगत्का कारण नहीं हो सकती। यदि कहो कि धान्य वर्षाकी प्रतीक्षा करती है, यहांपर जडको इच्छानुग्रहत्व है अतः प्रधान कारण हो जावैगा सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां पर लक्षण वृत्तिसे कृषकमे इच्छानुग्रहत्व है किन्तु शस्यको नही है। अतः जगत्का कारण प्रधान नहीं है किन्तु आप ही हो क्यों कि,यह समस्त जगत् ब्रह्मात्मक है और जो इसका आत्मा(कारण है वही सत्य है, इस श्रुतिमें आत्माको कारण कहा है। अस्तु प्रधानकारण न होवे किन्तु जीव तो कारण हो सकता है क्योंकि जीवको इच्छानुग्रहका सम्भव है। (इच्छा संकल्पकी दूसरी पर्याय अनुग्रह भी है) श्रुति भी है आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, इस श्रुतिद्वारा आत्मशब्दसे कारणको कह रहा है पुनः इस आत्मशब्दसे कहे जानेवाला जीवसे अन्य कोई नहीं है। जीवसे अतिरिक्त और कोई कारण है इस शंकाको दूर करनेके लिये,"तस्यैष एव शारीर आत्मा" श्रुति कहती है कि उस शरीरभूत अन्नमयका आत्मा जीवात्मा ही है ऐसा शरीर सम्बन्धको कहकर 'आनन्द' शब्दसे स्वार्थमें मयट् प्रत्यय करके, जीवात्माको आनन्दमय रूप कहकर. वही चेतन संकल्प किया है ऐसा उस चेतनके संकल्पपूर्वक सृष्टिका होना कहा गया है। पुरुषविधः, इस श्लोकके अन्तिम पादके पदसे, आनन्दमयाधिकरणमें जो जीवका कारण कहा है उस पूर्वपक्षके शंकाको दूर करते हैं। पुरुषविधः इस पदसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय,

---

१ एकोऽहं बहु स्याम्। २ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्। ३ आत्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।

---

१ तैत्तिरीय उपनिषदके आनन्दावल्लीमें 'अन्नमयः' अन्नके रससे उत्पन्न होकर जो अन्नके रसहीमें पाल होता है तथा अन्नरूप पृथिवीमें जो लीन होता है वही अन्नमय स्थूल शरीर है।

२ प्राणमय-प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पञ्चप्राणादि वायु। और मुख, कर, चरण, शिश्न, गुदा, ये पंच कर्म इन्द्री, इन दोनोंको प्राणमय कहते है।

३ मनोमय-कर्ण, नेत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा और मन इन ज्ञान इन्द्रियोंको मनोमय कहते है।

४ विज्ञानमय उक्त पाँचों ज्ञान इन्द्री और बुद्धि इनको विज्ञानमय कहते है।

आनन्दमय इन अन्नमयादिक पञ्च कोशोंमें जो अन्तिम आनन्दमय है वही पुरुष विध (रूप) है पुरुष रूपसे निर्णय किया गया है। श्लोकमें भी पुरुषाकार ही कहा है वैसा ही श्रुतिसे भी पुरुषरूप सम्बन्ध निरूपण किया है। अन्नमयादिक चारों कोशोंमें व्याप्त है, यह श्रुति है कि, उसका

---

(१) इन उक्त चारों विशेषणयुक्त पंचम आनन्दमय ब्रह्म है क्योंकि आनन्दावल्लीमें इस क्रमसे कहा है कि वेदके दो विभाग हैं एक मन्त्रभाग दूसरा ब्राह्मणभाग, इन दोनों भागोंसे प्रतिपादित ब्रह्मसे आकाश उत्पन्न हुआ। पुनः आकाश और स्पर्श मिलकर आकाशसे दूना वायु उत्पन्न हुआ। वायुसे शब्द स्पर्श रूप मिलकर वायुसे तीन गुना जादे अग्नि उत्पन्न हुआ। अग्निसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस मिलकर चार गुना जादे जल उत्पन्न हुआ। जलसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध मिलकर जलसे पांच गुना जादे पृथिवी उत्पन्न हुई। पृथिवीसे ओषधि, ओषधिसे अन्न, अन्नसे पुरुष हुआ वह पुरुष अन्नरसमय है अर्थात् स्थूलरूप ब्रह्म है, क्योंकि आगे श्रुति है कि उसी अन्नरसमय पुरुषका यह शरीर है, दाहिना हाथ दक्षिण पंख है, वामा हाथ वाम पंख है, यही आत्मा ब्रह्म है, इसी अङ्गीका एक अङ्ग पुच्छ आधाररूपसे है? इसका यह श्लोक भी है, निश्चय कर अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है, और पृथिवीमें जो कुछ स्थावर जङ्गम प्रजा है वह अन्नहीसे जीती है और अन्नहीमें लय होती है। अन्न सर्व प्राणियोंसे ज्येष्ठ (आद्य) है क्योंकि सर्वकी उत्पत्ति, पालन, लय, अन्नहीमें होती है अतएव अन्न ओषधि रूप ब्रह्महो कहा गया है। जे अन्न ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे सर्व अन्नरूप ब्रह्मको पाय जाते हैं। वह अन्न सर्व प्राणियोंका कारण होनेसे आदि है अतएव ओषधि कहा गया है। क्योंकि सर्व प्रजा अन्नहीसे उत्पन्न होती है और अन्नहीसे पालित होती है और वही अन्न प्राणियोंसे भोग किया जाता है तथा वही अन्न संहार करता है अतः अन्न ब्रह्मका अवयव है और ब्रह्म अवयवी है।

(२) उक्त अन्न रसमयसे दूसरा अन्तरात्मा प्राणमय भी है। उसीसे यह लोक परिपूर्ण (अन्नरसमय शरीरमें व्याप्त) है सो यह प्राणमय आत्मा पुरुषरूप है अर्थात् पुरुष रूप आकार है किन्तु स्वतः नहीं है, इस प्राणमय आत्माका प्राण शरीर है, व्यान दाहिन पंख है, अपान वाम पंख है, आकाश आत्मा है, पृथिवीरूप ब्रह्मका अवयव आधार पुच्छ प्रतिष्ठित है। इसका यह श्लोक है कि, प्राणहीसे देवलोग क्रियावान् होते हैं तथा मनुष्य पशु पक्षी आदि शक्तिवान् होते हैं, और प्राण ही भूतोंकी आयु है इसीसे प्राणवायु सर्वकी आयु कहा गया है, अतः जे ब्रह्मका अवयवभूत प्राण आत्माकी उपासना करते हैं वे सर्व अपमृत्युओंसे आयुको जीत लेते हैं। प्राण प्राणियोंकी आयु है इसीसे सर्वायु कहा जाता है। अतः उक्त अन्नरसमय शरीरमें यही ब्रह्मका अवयव प्राणमय वायु आत्मा है।

(३) उक्त अन्नप्राणमयसे दूसरा अन्तरात्मा मनोमय है, इसीसे प्राणमय आत्मा पूर्ण है, सो वह मनोमय आत्मा पुरुषाकार है, उसका यजुर्वेद शरीर है, ऋग्वेद दाहिन पंख है, सामवेद वाम पंख है, ब्राह्मण आदि आत्मा शरीर है, अथर्वाङ्गिरसकी ब्रह्मावयव पुच्छ प्रतिष्ठा है। इसका यह श्लोक है, जिसको मनके साथ वचन यथेष्ट प्रतिपादन कर लौट आता है, वही आनन्दमय ब्रह्म है, वह कहींसे नहीं डरता और उसके जाननेवालेको भी कहींसे भय नहीं है।

(४) उक्त मनोमयसे दूसरा आत्मा विज्ञानमय है, इससे मनोमय आत्मा पूर्ण है, सो विज्ञानमय आत्मा पुरुषाकार है, जिसका श्रद्धा शिर है, ऋत दाहिन पंख है, सत्य वाम पंख है, योगआत्मा शरीरी है, महः पुच्छ प्रतिष्ठित है। इसका यह श्लोक है कि, विज्ञानवान् जीव यज्ञ करता है, तथा कर्म भी करता है, विज्ञानहीसे किया हुआ समस्त जगत् है अतः विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, सर्व-

प्रियं शिर है, प्रियनिमित्तक हर्ष दाहिन पंख (हस्त) है, हर्षकी अत्यन्त उत्कर्षता प्रमोद वाम पंख (हस्त) है, आनन्दमय आत्मा ब्रह्मदेहका मध्यभाग है, उसीकी व्यापकत्व आधाररूपसे पुच्छ प्रतिष्ठित है । (ब्रह्मकी सर्व शरीर छोड़कर पुच्छमें स्थिति कहनेका तात्पर्य यह है कि शरीर निर्माणसमयमें प्रथम कटिपश्चाद्भागका पिण्ड होता है पुनः उसीसे करचरणादि अवयव होते है, अतः वह कटिपश्चाद्भाग सर्वशरीरका आधार है अतएव सर्वका आधार ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठित है ऐसा श्रुति कहती है) इस प्रकार शिर पंख पुच्छरूप आदि पुरुषाकार अवयव युक्त ब्रह्म कारण कहा गया है वह आप ही हो, जीवात्मा नहीं है । जीवात्मा कारण क्यों नहीं है, इस शंकाको यदिदं, इत्यादि आगेके श्रुतिसे कहते है । जो जड चेतनात्मक जगत्रूप प्रपञ्चको उत्पन्न कर उसीमें जीवके द्वारा प्रवेश करके पुनः अनेक चेतन और अचेतन नामवाला होता है। अतः अपनेसे उत्पन्न किये गये जड़चेतनोंमें जीवके द्वारा प्रवेश करके स्वय जडचेतनात्मक जगत्रूपसे हुआ पुनः जिसके जड़चेतन वाचक शब्दोंसे नाम सुने जाते है,सो उन नामोंकी सङ्गतिबद्ध मुक्त दोनों जीवात्माओंमे नहीं हो सकती क्योंकि जड़चेतनात्मक जगत्को उत्पन्न कर पुनः उसीमें प्रवेश करना यह जीवोंसे नहीं हो सकता कारण कि जो श्रुतिमें चेतनशब्द पड़ा है वह जीवका ही वाचक है अतः जडचेतनात्मक जगत्रूप होना पुनः उसीमे प्रवेश करना यह आपहीमें सङ्गत है क्योंकि जो इस जड़चेतनात्मक जगत्रूप प्रपंचसे पृथक् और विलक्षण हैं । कथित और अकथित गृही और अगृही विज्ञान (सृष्टि) और अविज्ञान (कारणावस्था) सत्य (चेतन) और असत्य (प्रकृति) इन प्रकृति पुरुषवाचकशब्दोंसे निर्देश करके पुनः उन्हींके अन्तरात्मरूपसे प्रवेश करता है ऐसा जो सुना जाता है वह जीवसे पृथक् आप ही हो और उक्त अन्नमयादिक पंच कोशोंमें जो अन्तिम आनन्दमय सत्यस्वरूप निर्विकार है वह आप ही हो । इस प्रकार जीव और परमात्मवाचक शब्दोंके साथ कथनसे जो श्रूयमाण सर्व

—देवलोग सबसे पूर्व होनेसे विज्ञानरूप ब्रह्मकी उपासना करते हैं, अर्थात् विज्ञानमयमें ही ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करते हैं, विज्ञानस्वरूप आत्माकी उपासना करके ज्ञानवान् होते है, जे विज्ञानस्वरूप ब्रह्मको जान जाते है, पुनः वे प्रमादको नहीं प्राप्त होते, तथा शरीरके पापोंसे छूटकर विज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी उपासनाद्वारा सम्पूर्ण सुखोंको भोगते है । उक्त मनोमय शरीरका आत्मा जीव है ।

(५) उक्त अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयका दूसरा अन्तर आत्मा आनन्दमय है, इस आनन्दमय आत्मा ब्रह्मसे अन्नमयादि चारोंकोश परिपूर्ण है, । सोई यह आनन्दमय आत्मा ब्रह्म पुरुषाकार है, इस आनन्दमय आत्माका प्रिय शिर है, प्रियप्राप्तिनिमित्तक जो हर्ष वही दाहिन पंख (हाथ) है और उसी हर्षका जो अत्यन्त उत्कर्ष वही वाम पंख (हाथ) है । तथा आनन्दमय आत्मा ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठित है, अर्थात् सर्व व्याप्त होकर आधार रूपसे रहता है । इसका यह श्लोक भी है । "असन्नेव स भवति " इति, जो पुरुष कहता है कि ब्रह्म नहीं है वह असाधु और नास्तिक है । और ब्रह्म है जे ऐसा जानते है उनको महात्मा लोग साधु तथा सज्जन मानते हैं ।

१ तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्दमय आत्मा ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा ।

जीवोंका आत्मा तथा सबोंपर अनुग्रह करना यह सर्व स्थावरजङ्गमात्मक जगत्के शरीरी जो आप उन्हींमें सङ्गत होता है। अर्थात् जीवोंके कारण कहनेमें जो विषय है उसका तात्पर्य यह है कि, सर्व चेतन आपके शरीर है और उन चेतनोंके आत्मा आप ही हो अतएव शरीरभूत सर्व जगत्का आत्मा होना आपहीमें सङ्गत होता है। अतः समस्त जगतके कारण आप ही हो। तथापि इसमें अद्वैतवादी लोग उक्त अन्नमयादिक पंचकोशोंमेंसे जो अन्तिम 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिसे पुच्छआधाररूपसे जो ब्रह्म कथित है सोई आप हो ऐसी संगति (सम्बन्ध) की है। इस अद्वैतवादको दिखाते हैं। १ श्रुति दो प्रकारकी है एकका नाम अन्वय, दूसरेका नाम व्यतिरेक। "सत्यं ज्ञानमनन्तं" यह अन्वयश्रुति है, 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह व्यतिरेक श्रुति है। अन्वयका अर्थ यह है कि जो केवल ब्रह्मका कथन करे। व्यतिरेकका अर्थ यह है कि जो सर्वका निषेध करते हुए ब्रह्मका कथन करे। अतः इस व्यतिरेक श्रुतिसे सर्व पदार्थका निराकरण करके अवशेष ब्रह्मको निश्चय किया है। इसीतरह अन्नमयादिकमें आनन्दमयपर्यन्त निराकरण करके, पक्षीरूप रूपकमें प्रतिष्ठा (आधार) का हेतु पुच्छमें कहा है। अतः जगत्का कारण यह पुच्छ ही ब्रह्म है किन्तु ब्रह्मपुच्छ कारण नहीं है, क्योंकि उक्त व्यतिरेक श्रुतिसे ब्रह्म विशेषणवान् प्रतीत होता है अर्थात् ब्रह्मणः पुच्छं ब्रह्मपुच्छ ऐसा विग्रह करनेसे ब्रह्म विशेषण सहित है अतः निर्विशेष पुच्छ ही जगतका कारण है। आगे श्लोकमें ब्रह्मके ही प्राधान्यका निश्चय है और प्रिय दक्षिण पंख है, प्रमोद वाम पंख है इत्यादि वाक्योंसेसर्व साधारणको विदित है कि आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, यदि इस आनन्दमयको ब्रह्म मानोगे तो इसमें शंका होनेकी सङ्गति है अतः आनन्दमय जीवका वाचक है क्योंकि इसका कहीं सद्भाव (प्रकाश), कहीं असद्भाव (अप्रकाश), कभी ज्ञानवान् कभी अज्ञानवान् होनेसे जब कि ब्रह्म श्रुतिस्मृतियोंसे निर्विकार प्रतिपादित है तब तो उसमें अंश होनेकी सम्भावना ही नहीं होती और इस आनन्दमयमें मयट्प्रत्ययका विकार अर्थमें होना निश्चय है अतः विकार अर्थमें होनेवाला मयट् प्रत्यय आनन्दमयमें सर्वथा संगत है इससे आनन्दमयवाचक शब्द ब्रह्म नहीं हो सकता। क्योंकि श्रुतिमें **'तस्यैष एव आत्मा'** ऐसा पाठ किया है सो पूर्व अन्नमयकोशका आत्मा पुनः प्राणमयकोशका आत्मा इस क्रमसे पूर्व २ का शरीर और उत्तर २ का आत्मा कहते हुए आनन्दयमयतक आत्माका विधान किया है अर्थात् उस ब्रह्मसे भिन्न आनन्दमय वस्तुका शरीरसम्बन्धी आत्माका कथन किया है अतः ब्रह्म नहीं है। इस आनन्दमयको ब्रह्म नहीं मानना चाहिये यदि इस आनन्दमयको किसी युक्तिसे सिद्ध करना चाहो तो वह ठीक नहीं, क्योंकि नित्य शुद्ध परमात्माको शुद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं और जब आनन्दमयको ब्रह्म मानैंगे तब तो ब्रह्म विकारी हो जावेगा अतः विकारी होनेसे परिणामी अवश्य होगा इससे निर्विकार, निरीह, निरञ्जन, जो श्रुति ब्रह्मको कहती है वह दूषित हो जावेगी इस कारणसे आनन्दमय ब्रह्म नहीं है। इससे आनन्दमय शब्दसे कहे जानेवाला ब्रह्म नहीं है, क्योंकि जो पुच्छरूप रूपक किया गया है वही ब्रह्म है—

यह जो निर्विशेष अद्वैत वादियोंका उक्त मत है सो ठीक नहीं है अतः इस अद्वैतवादका खण्डन करते हैं, इस सम्पूर्ण प्रकरणमें पूर्व अन्नमयादिकोंमें अपने शरीरसे अपने कर चरणादिक अवयवोंका पृथक् कथन नहीं किया है अर्थात् अवयवीसे अवयवोंका पृथक् विधान नहीं किया है । 'प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणपक्षः' इस शिरपक्ष पुच्छादिरूपसे पुरुषाकाररूपमें विधान किया है और प्रिय मोदादिकोंसे उसमें शरीर पक्ष पुच्छादिकोंका निराकरण नहीं किया है । इससे यहांपर आनन्दमय वाचकशब्दसे ब्रह्मका भेद पृथक् नहीं किया है, क्योंकि एक २ से उत्तरोत्तर एक २ कथन किया है जो कि अन्नमयसे प्राणमय प्राणमयसे मनोमय इस क्रमसे कहते २ आनन्दमयमें पर्य्यवसान किया हैं, और आनन्दमयका दूसरा आत्मा नहीं विधान है अतः आनन्दमयवाचक शब्द ही ब्रह्म है । "तस्यैष एव शारीर आत्मा" इन अन्नमयादिक श्रुतियोंके शब्दोंसे उसीका शरीरी यह आत्मा है । इस क्रमसे श्रुतियोंके द्वारा उत्तरोत्तर कहा है अर्थात् अन्नमयका दूसरा आत्मा प्राणमय, प्राणमयका दूसरा आत्मा मनोमय,मनोमयका दूसरा आत्मा विज्ञानमय,विज्ञानमयका दूसरा आत्मा आनन्दमय कहकर समाप्त किया है और आनन्दमयका दूसरा आत्मा विधान नहीं किया है अतः आनन्दमय ही ब्रह्म है । ब्रह्मका एक दूसरा पर्याय आनन्दमय है, क्योंकि पूर्वोक्त अन्नमयादिकोंके श्लोकमें कहा है कि 'ये अन्नं ब्रह्म उपासते ये प्राणं ब्रह्म उपासते' ऐसा ही हर एकमें कथन किया है, इससे जैसे अन्न और प्राण आदि ब्रह्मके पर्याय कथित है ऐसे ही आनन्दमय भी है "प्रियमेवशिरः मोदो दक्षिणः पक्षः"इत्यादि श्रुतिवाक्योंका तात्पर्य समस्त शिर पक्ष पुच्छादि अवयववान् ही पुरुषके कथनमें हैं, केवल पुच्छका ही ब्रह्म निरूपण नहीं है केवल पुच्छमात्रको ही ब्रह्म कहनेसे समग्र श्रुति श्लोक असङ्गत-हो जावेगा । उक्त अन्नमयादिकोंके अनन्तर 'सोऽकामयत, एकोऽहं बहु स्याम्' इन श्रुतियोंसे बहुत होनेकी कामना करनेवाला ब्रह्म ही सिद्ध होता है । अतः 'सोऽकामयत' इस वाक्यसे पुरुषका ही ज्ञान होता है और चेतनका नहीं होता और 'इति' शब्दसे पुरुषाकार निरूपण किया है । जो प्रधान (मुख्य) ब्रह्मके निरूपण (उपासना प्रकरणमें) पुनः मीमांसा करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि पूर्व अन्नमय ब्रह्मकी उपासना कही है पुनः प्राणमयकी उपासना इसी क्रमसे कहते हुए आकर आनन्द ब्रह्ममें समाप्त किया है अतः आनन्द-मय शब्द ही ब्रह्मवाचक है इस बातकी सङ्गति पूर्व श्रुतियोंके क्रमसे चली आ रही है । यदि आनन्दमयसे ब्रह्मको पृथक् मानेंगे तो पूर्व कथित श्रुति तथा श्लोकोंमें क्षति पड़ेगी अतः ब्रह्म-वाचक आनन्दमय शब्द है और आनन्दमय वाचक ब्रह्म शब्द है अर्थात् दोनों एक एकके पर्य्याय हैं । आनन्दमय शब्दका ब्रह्म प्रतिपादन करनेमें श्रुति भी प्रमाण है-"आनन्दं ब्रह्म विजानीयात्" क्योंकि आनन्दमय और आत्मा इन दोनों शब्दोंको एक ही वाक्यसे कथन किया है अर्थात् आनन्दमय आत्मा और ब्रह्म एक वाक्यसे उच्चारण होनेसे एक दूसरेका पर्याय है । स्वार्थमें मयट् प्रत्यय होनेसे आनन्दमय और आनन्द दोनों एक ही अर्थके होते हैं इससे आनन्दमयके कथनसे ब्रह्मका ही ज्ञान होता है । तैत्तिरीय उपनिषद्में भृगुवल्ली अध्यायके

षष्ठअनुवाकमें प्रथम श्रुति है कि 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इस श्रुतिसे ब्रह्मशब्द और आनन्द शब्दके तुल्य पर्य्याय स्पष्ट है ब्रह्म और आनन्द शब्दका दूसरा अर्थ भी नहीं है इससे आनन्दमयसे ब्रह्म दूसरा नहीं है। जो आनन्दमय आत्मा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिने आनन्दमय ब्रह्मका ही शिर पक्ष, पुच्छसे रूपक विधान किया है इस अर्थका त्याग कर केवल पुच्छको ब्रह्म माननेसे पिछली अन्नमयादिक श्रुतियोंका तात्पर्यनिश्चय न होगा, क्योंकि पिछली श्रुतियोंका प्रत्येक अन्नमयादिकोंका आत्मा कहकर आनन्दमय ब्रह्ममें ही समाप्त करनेका तात्पर्य्य है, अतः केवल पुच्छ ब्रह्म नहीं निश्चित होता किन्तु शिर, पयर पुच्छादि मान आनन्दमय ही ब्रह्मका कथन है। 'तस्येदमेव शिरः' इस अन्नमयादि श्रुतिके वाक्यसे लेकर प्रति कोशोंको श्रुतियोंमें षष्ठी देते देते 'तस्य प्रियमेव शिरः' इस आनन्दमयकी श्रुतिमें षष्ठी देकर विराम किया अतः इन षष्ठियोंके निर्देशका आशय यही है कि अवयवीसे शिर, पक्ष पुच्छादि अवयवोंका पृथक्त्व कथन नहीं है अतः आनन्दमय ब्रह्म है। यदि आप उक्त 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुतिका दृष्टान्त देकर ब्रह्ममे अंश–अंशीभावका खण्डन करते हो सो वह अंश–अंशीभाव आनन्दमय ब्रह्मके साथमें तो होता नहीं है क्योंकि ब्रह्मसे आनन्दमयवाचक शब्द पृथक् न होनेसे अंश–अंशीभावकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा, ब्रह्म, आनन्दमय, ये तीनों शब्द एक ही अर्थका बोधन करते हुए परस्परमें एक एकका पर्याय है। आत्मशब्द, ब्रह्मशब्द, आनन्दमय शब्द ये तीनों परस्परमें एक एकके पर्यायवाचक हैं अतः श्लोककी उत्पत्ति उक्त तीनों शब्दोंमेंसे एकके ही साथ होगी. जब कि तीनों शब्दोंसे एक ही ब्रह्म कहा जाता है तब आनन्दसे परिपूर्ण आनन्दमय शब्द वाच्य ही ब्रह्म है। सुप्रसिद्ध आनन्दमय ब्रह्मके होते हुए भी जगतमें निरानन्द प्रतीत हो रहा है पुनः उस ब्रह्मविषयक ज्ञान और अज्ञान द्वारा सत् और असत् भावका होना और न होना "असन्नेव स भवति" इस श्रुतिके श्लोकके द्वारा विधान किया गया है। इस ब्रह्ममें शंकाका भी सम्भव है क्योंकि एक पुरुषाकार रूपक किया गया है कि प्रिय शिर है मोद दक्षिण पक्ष है प्रमोद वाम पक्ष है ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठित है और अंश-अंशीभाव भी है क्योंकि अवयवीके करचरणादि अवयव अंश कहे गये है अतः आनन्दमय आत्म ब्रह्मके अवयव शिर पक्ष पुच्छ कथित हैं और आनन्दमय ब्रह्मका अवयवी कहे हैं इससे अंश–अंशीभाव ठीक है। मयट् प्रत्ययके स्वार्थ विकारार्थ अथवा प्राचुर्यार्थक मानिये किन्तु ब्रह्ममें विकारी होनेके सिद्धिका अभाव है अर्थात् ब्रह्मका विकारी न होनेसे स्वार्थमें मयट् मानना पड़ेगा। और जो निर्विशेष अद्वैतवादी कहते है कि ब्रह्मके शिवाय और कोई पदार्थ नहीं है सो उनका निर्वाह हो जावेगा क्योंकि अन्नमयादिकोंका क्रमसे श्रुतियोंमें कहा है कि उसीका यह शरीरी आत्मा है इस वाक्यमें विरोध भी नहीं आता क्योंकि क्रमसे एक दूसरेका आत्मा कहते हुए जाकर आनन्दमयमें विराम किया है और आनन्दमयका दूसरा आत्मा नहीं कहा है अतः आनन्दमय ब्रह्ममें कोई विरोध नहीं पड़ता। और उक्त अन्नमयादिक प्रत्येक श्रुतियोंमें एकसे एक दूसरेका आत्मा कहनेसे ब्रह्मके

शोधन करनेकी आवश्यकता है क्योंकि प्रत्यक् आत्मा ब्रह्मका ज्ञान होनेसे संसारकी निवृत्ति होती है और उसके न जाननेसे संसारका होना विधान है अतः शोधन करना भी ठीक है । इससे आनन्दमय शब्दसे ब्रह्मका ही कथन होता है जैसे कि शोध्य पदार्थकी सिद्धिसे साध्य पदार्थ की उपपत्ति हो जाती है । यदि आनन्दमयसे दूसरा पुच्छका ब्रह्म मानेंगे तो श्रुतियोंके रूपक-में दोष पड़ेगा क्योंकि उस रूपकमें एक अवयवी बनाकर उसीके अवयव शिर पक्ष पुच्छादि वर्णन किया है अतः समस्त अवयवीको त्यागकर एक अययव पुच्छका ब्रह्म मानना उचित नहीं है अतः वही आनन्दमय आत्मा ब्रह्म है इससे पुच्छको ब्रह्म माननेवाले जो आनन्दमयको ब्रह्म माननेमें दोष देते थे उसका उद्धार हो गया । और हमारा आनन्दमय आत्मा ब्रह्मका मानना सिद्ध हो गया ॥ १७ ॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः,
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ॥
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं,
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥ १८ ॥

ऋषिवर्त्मसु-ये } वेदान्त शास्त्रसे कथित उपासना मार्गमें जे लोग

कूर्पदृशः-(तत्र ये)-अति कुशल सूक्ष्म बुद्धि हैं उनमें जे कोई

आरुणयः-हृदयं } आरुण वंशी है (उनके अनुगामी लोग) हृदयमें

दहरं-(त्वां)-उपासते } दहर नामक हृदयकमलके अन्तर वर्त्तमान आकाशरूप आपकी उपासना करते हैं

(केचित्)उदरं-(त्वां)(उपासते) } और कोई उदरमें जठराग्नि शरीरधारी आपकी उपासना करते हैं

(केचित्) परिसरपद्धतिं } कोई सर्व शरीरमें व्याप्त जो सुषुम्नानाडी उसके मार्गमें स्थित

(त्वां) (उपासते) हे अनन्त-आपकी उपासना करते हैं । हे अनन्त!

यत्-तव-परमं-धाम-शिरः } जो आपके उपासनाका परम स्थान दोनों भ्रुकुटीका मध्य तथा शिरका

(यत्) समेत्य-उदगात् प्राप्त होकर जाते हैं वे
पुनः-इह-कृतान्तमुखे- पुनः इस यमराजके मुखरूप संसारमें
न पतन्ति- नहीं आते ।

सर्व देवादिकोंकी उपासना छोड़कर केवल कारणकी उपासना श्रुतिस्मृतियोंसे सिद्ध हुई है किन्तु कौन २ आचार्य इस शरीरके किस किस स्थानमें किस किस तरहकी उपासना करते हैं और उपासनाओंका क्या फल है ? इस प्रश्नमें उपासनाओंको कहकर सर्व उपासकोंका एक मोक्ष ही अभिलषित फल है इस बातको (उदरमुपासते) इस श्लोकसे कहते है। वेदान्त शास्त्रोंसे कथित उपासनामार्गमें जे अति निपुण सूक्ष्मबुद्धि हैं उनमें जे कोई आरुणवंशी हैं उनके अनुगामी जो कि हर विद्यामें परायण है वे लोग हृदयमें प्राप्त दहर शब्द नामक हृदयकमलके अन्दर वर्तमान आकाशरूप आपकी उपासना करते हैं। और जे कोई उशस्ति प्रभृति उपासकजन जे कि वैश्वानर नामक उपासनामें तत्पर है वे लोग उदरमें जठराग्निशरीरधारी रूपसे वर्त्तमान आपकी उपासना करते हैं। कोई सर्व शरीरमें व्याप्त जो एकसौ एक नाडी हैं उनमेसे एक जो सुषुम्ना नामकी नाडी (नश) वह मोक्षपदका मार्ग है उस मार्गमें स्थित आपकी उपासना करते है। सुषुम्ना नाडी हृदयसे लेकर शिरपर्य्यन्त व्याप्त है अतएव मूलमें 'परिसरपद्धति' ऐसा पाठ किया है। श्रुति[१] भी है,एक सौ एक हृदयकी नाडी हैं, उनमेंसे एक सुषुम्ना नामकी है वह हृदयसे लेकर शिरको निकल गयी है। हे अनन्त ! आपके परम उपासनाका स्थान हृदयसे लेकर दोनों भ्रुकुटीका मध्यभाग और शिर भी कहा गया है अतः जो पासके उक्त स्थानोंमें उक्त उपासनाओंको करके उक्त नाडीके द्वारा जाता है वह पुनः मायाके वशीभूत मृत्युका मुखरूप इस संसारमें नहीं आता। क्योंकि श्रुति[२] भी कहती है कि ईसका नाम देवपथ और ब्रह्मपथ है इस पथसे जे जाते है वे अमृत हो जाते हैं अर्थात् इस संसारके आवागमनसे रहित हो जाते है। अतएव सुषुम्ना नाडीके द्वारा जाना सर्व उपासकोंको अतीव प्रशस्त है ॥ १८ ॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया,
तरतमतश्चकास्त्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ॥
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥ १९ ॥

हेतुतया	सर्व जगत्का उपादान तथा निमित्तकारण होनेसे ही
स्वकृतविचित्रयोनिषु	आप (संकलपशक्ति) से रचना की हुई नानादेवमनुष्यादिरूप योनियोंमें प्राप्त जीवोंके अन्तःकरणोंमें

१ 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति, विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति'। २ 'स एष देवपथो ब्रह्मपथः तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति तेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते'।

हेतुतया-विशन्निव-प्रवेश करते हुएकी तरह

तरतमतः-स्वकृतानुकृतिः	ज्ञानकी न्यूनता और अधिकता तथा छोटे और बड़े देव मनुष्य आदि होनेसे आपने संकल्प शक्तिद्वारा की हुई नर वानर आदि योनियोंका अनुकरण करते हुए
अनलवत्-चकास्ति	अग्निकी तरह शोभित होते हैं जैसे अग्नि छोटे बड़े आकारसे रहित होती है इन्धनके अनुसार छोटी बड़ी होता है वैसे ही आप सर्व पिपीलिका हस्ती आदिकमें शोभित होते हैं
अथ-अमूषु-वितथासु	और नाश होनेवाली इन देव मनुष्यादि योनियोंमें
अवितथं-समम्-एकरसं	नाश न होनेवाला एकरूप (कार्यमें प्रविष्ट होने पर भी कार्यके दोषोंके स्पर्शसे रहित) निरन्तर ज्ञानकी उन्नतिकी हानिसे रहित ऐसे
तव-धाम-अभिविपण्यवः	आपके स्वरूपको, इसलोक तथा परलोक-कर्मफलोंकी इच्छासे रहित
विरजधियः-अन्वयन्ति	निर्मलबुद्धिवाले भक्तलोग उपासना करके प्राप्त होते हैं ।

भाषार्थः ।

इसतरह दहरादिक उपासनाके स्थान कहे गये है, उन उपासनाओंके वर्णनप्रसङ्गसे परमात्माको इस अपवित्र भौतिक शरीरके उदर, हृदय, भ्रूमध्य, शिर, इन निकृष्ट स्थलोमें उपासनावश कहा गया है । किन्तु सम्बन्ध तो उसे कहते है कि जो एक दूसरेके साथ हो, पुनः परमात्मा जब स्वतः जगत्‌का कार्य कारण है तब उसका दहरादि उपासनास्थानोमें प्रवेश कैसे ? क्योंकि, अपनेमें ही अपना प्रवेश करना सर्वथा असङ्गत है सो ठीक है; किन्तु हमारे सिद्धान्तमें परमात्मा जगत्‌के साथ शरीर शरीरी (आत्म) भाव सम्बन्ध है अतएव प्रवेश करनेमें कोई क्षति नहीं है । और कारणरूप जो परमात्मा उसका कार्यरूपसे परिणामी होना स्वरूपतः नहीं है किन्तु शरीरतः है, सो उसके शरीरभूत जड़ चेतन प्रसिद्ध ही है । अतः इसतरह उपासनाके द्वारा परमात्माका अन्त.करणमे प्रवेशका निर्देश करके परम मोक्षकी प्राप्ति 'स्वकृत विचित्र' इस श्लोकसे कहते है। सर्व जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण होनेसे आपसे जीवोंके अनादि कालके कर्मके द्वारा निर्मित नाना देवमनुष्य आदि सांसारिक शरीरधारी चेतनोंमें अन्तः आत्मरूप प्रवेश करते है । अथवा देवमनुष्य आदि शरीरोंमें उपासकोंके अनु-

ग्रहसे उपासनाके लिये प्रवेश करते है ऐसा ज्ञान होता है, इव शब्दका अर्थ है कि जब आप कारण हैं तब तो कार्यमें स्वतः प्रविष्ट हैं। पुनः उपासनार्थ आपका प्रवेश एक प्रवेशकी तरह माना जाता है? ज्ञानकी न्यूनता और अधिकता, छोटा और बड़ा, देव और मनुष्य, दुर्बल और स्थूल आदि रूप अपनेसे रचित योनियोंका अनुकरण करते हो। अथवा हृदयआदि इंद्रिय तथा मनबुद्धि आदिकोंकी बाल्यावस्थासे यौवनावस्थातक वृद्धि अनन्तर वृद्धावस्थामें हानि इन परिणामोंका अनुकरण करते हुए शोभित हैं। जैसे अग्नि स्वयं छोटे और बड़े आदि धर्मोंसे रहित है तथापि काष्ठआदि इन्धन सम्बन्धसे छोटा और बड़ा भासता है वैसे ही आप नानायोनियोंका अनुकरण करते हुए छोटे और बड़े रूपसे प्रकाशते हैं। और दृश्यमान यावत् देवमनुष्यादियोनियां हैं वे सभी उत्पन्न और नष्ट होनेवाली हैं, इन उक्त योनियोंमें सदा सत्यभूत कभी भी नष्ट न होनेवाला सर्वदा एकरूप और स्थावर जङ्गमात्मक जगत्रूप कार्यमें प्रविष्ट होते हुए भी कार्यके सम्बन्धसे होनेवाले पाप पुण्य आदि दोषोंके स्पर्शसे रहित कभी भी क्षीण न होनेवाला आनन्दका धाम ऐसे आपके स्वरूपको, इसलोक तथा परलोकके कर्मफल प्राप्तिकी इच्छासे रहित निर्म्मलबुद्धियुक्त महात्मा लोग उपासना करके प्राप्त होते है। किसी पुस्तकमें "अभिमन्यव एकरसम्" ऐसा भी पाठ है, इस पाठका अर्थ है कि आपके अनन्त अवतारोंके गुणोंके गानमें परायण होकर आपको प्राप्त होते हैं।

सर्वज्ञः सर्वदृक् सर्वज्ञानशक्तिबलर्द्धिमान्।
अन्यूनश्चाप्यवृद्धश्च स्वाधीनोऽनादिमान् वशी॥
क्लमतन्द्राभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः।
निरवद्यः परप्राप्तिर्निरधिष्ठोऽक्षरक्रमः॥ १९॥

इस श्रुतिका अर्थ इस उक्त श्लोकमें ग्रहण करना आवश्यक है॥ १९॥

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं तव पुरुषं
वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्॥
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः॥ २०॥

अन्वयार्थः।

अमीषु स्वकृतपुरेषु } आपसे निर्मित आपके निवासभूत इन देवमनुष्यादि शरीरोंमें (स्थित)

अखिलशक्तिधृतः—सम्पूर्ण आश्चर्य शक्तिधारी
तव-अंशकृत—आपके संकल्पज्ञसानं रचित

अबहिरन्तरसंवरणं } भीतर बाहर देशरहित (सर्वव्यापी) असंकुचित ज्ञानसे परिपूर्ण

पुरुषं(वेदान्ताः)वदन्ति-पुरुषस्वरूप (आपको) वेदान्ती लोग कहते हैं।

इति नृगतिं विचिन्त्य } इस प्रकार आपका पुरुषाकाररूप और आपके आराधनयोग्य मनुष्योंके जन्मको विचार करके।

भुवि विश्वसिताः केचित् } भूतलमें प्राणायाम परायण होकर प्राण इंद्रियोंको जीतनेवाले (कोई)

कवयः निगमावपनं-विवेकी महात्मा लोग, वेदोंको उत्पन्न करनेवाले

भवतः अङ्घ्रिम् उपासते-आपके श्रीचरणकमलोंकी उपासना करते हैं।

विशदार्थः ।

"परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम्" इस १६ में श्लोकके चतुर्थपादसे " उदरमुपासते " इस १८ में श्लोकसे "अवितथं तव धाम समं" इस १९ में श्लोकके तृतीयपादसे, उदरादि स्थानविशेषोंमें दिव्य श्रीभगवद्रूपके उपासकोंको भगवत्प्राप्ति (मुक्ति) कहीं है। अब श्रीरामकृष्णादि दिव्यविग्रहोंके उपासकोंको भगवत्स्वरूपप्राप्ति और मुक्ति होती है इस विषयको लेकर कहते है कि उक्तविग्रहोंके उपासक कितने हैं इस बातको "स्वकृतपुरेषु" इस श्लोकसे कहते हैं। आपसे निर्मित और आपके निवासभूत देवमनुष्यादि शरीरोंमें आप वर्तमान रहते हैं, समग्र आश्चर्यशक्तियोंको धारण करनेवाले आपके अंश अर्थात् संकल्पात्मकज्ञानसे रचित भीतर बाहरदेशरहित अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र व्याप्त होनेकी शक्तिधारी इस पदसे परमात्मा उक्त शरीरोंके किसी एक देशस्थानमें रहता है यह शंका दूर हो गयी,संकोचकहेतुओंसे रहित पुरुषस्वरूप आपके विग्रहको वेदान्तीलोग कहते हैं।"अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः" "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा । सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः" जो वेदान्तीलोग अङ्गुष्ठमात्र पुरुषरूप आपको प्रतिपादन करते हैं। इसप्रकार आपका पुरुषाकाररूप आपके आराधनके योग्य मनुष्यके शरीरको विचारपूर्वक निश्चय करके इस संसारमें कोई विवेकी ज्ञानी पुरुष प्राणायाममें कटिबद्ध होकर प्राण और इंद्रियोंको जीत करके वेदोंको उत्पन्न करनेवाले तथा वेदोंसे प्रतिपाद्य और उपासकोंको संसारसे छुटानेवाले ऐसे आपके श्रीचरणकमलोंकी उपासना करते हैं। अथवा निगम अर्थात् निरन्तर ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले क्योंकि श्रीकृष्णभगवान्ने स्वयं कहा है कि "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तम्"इसका अर्थ है कि जो कोई हमारेमें युक्त होकर निरन्तर भक्तिपूर्वक हमारा सेवन आराधन करता है उसको मैं ज्ञान योग देता हूं।"भुवि विश्वसिता"ऐसा भी कहीं पाठ है। इस पाठका अर्थ है कि भगवान् संसारसे मुक्त करेंगे ऐसे दृढ़ विश्वासको कर उपासना करते हैं।

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः ॥
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः ।

हे ईश्वर ! दुरवगमात्मतत्त्व-	हे परमात्मन् ! बड़े परिश्रमसे भी यथेष्ट ज्ञान न होनेके योग्य आत्मतत्त्वको
निगमाय आत्ततनोः-तव	प्रकाशित करनेके लिये श्रीरामकृष्णादि शरीर-को धारण करनेवाले आपके
चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्त-परिश्रमणाः ।	चरित्र रूपी महोदधिमें गोता लगाकर दैहिक, दैविक, भौतिक इन तीनों तापोंसे निवृत्त हो गये हैं और
ते चरणसरोजहंसकुलसङ्ग-विसृष्टगृहाः केचित्	आपके चरणारविन्दोंके आश्रित भक्तजनोंके सत्सङ्गसे जिन्होंने गृहादिकोंका मायामोह छोड़ दिया है वे ऐसे
अपवर्गम् अपि न परिलषन्ति	मोक्षसुखकी भी अभिलाषा नहीं करते हैं ।

विशदार्थः ।

कोई भक्तगण उक्त दहरादि उपासन और आराधन इन दोनों उपासनाओंका त्याग करके केवल आपके गुणानुवादका अनुभव रूप अमृतके पानसे सुखी होकर मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, इस बातको "दुरवगमात्मतत्त्व" इस श्लोकसे कहते हैं—अत्यन्त परिश्रम करनेपर भी यथेष्ट न जानने योग्य अति गूढ अपने आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेके लिये आप श्रीराम कृष्णादि अवतारिक शरीरोंको धारण करके जो चरित्र किये हैं उस चरितरूपी अमृतसमुद्रमें स्नना करनेसे दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापोंसे निवृत्त हुए हैं और आपके श्रीचरणकमलोंके आश्रित भक्त जनोंके सत्सङ्गसे जिन्होंने गृह और देहादिकोंके अनुरागको त्याग दिया है वे लोग मोक्षसुखकी प्राप्तिकी भी अभिलाषा नहीं करते हैं ।

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्चरति
तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ॥
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः ।

कुलायम्, इदं शरीरं, त्वदनुपथम्,	चिड़ियोंके घोसलोंके समान यह मनुष्य शरीर यदि आपके आराधनमें परायण हो गया तो
आत्मसुहृत्प्रियवच्चरति	अपने आत्माके प्रिय और सुहृद् हितैषीके समान आचरण करता है,
असदुपासनया, आत्महनः	यदि इन्द्रियोंके सुखार्थ आपकी उपासना की तो अपने आत्माका ही घात किया
बत, अहो, प्रिये, आत्मनि,	विशेष खेदकी बात तो यह है कि आश्चर्यकारि गुणवान् मनुष्यका शरीर पाकर भी, अति प्रिय आत्मा
त्वयि, उन्मुखे, हिते न रमन्ति,	आनन्दोंसे परिपूर्ण और अनुकूल हितकारी ऐसे आपका जो नहीं आराधन करते
यत्, अनुशयाः कुशरीरभृतः उरुभये, भ्रमन्ति	उसीसे अनादि कालके पूर्वजन्मके भोगसे अवशिष्ट कर्म वश जीवगण कुत्ता, शूकरादिनिन्द्य योनियोंके शरीरको पाकर अति भयदायी संसारमें बारंबार पड़ते हैं ।

विशदार्थः ।

"इति नृगतिं विचिन्त्य" इस २० बीसवें श्लोकमें जो मनुष्य शरीरको भगवत् सेवाके योग्य कहीं है उसीको श्रुतिगण स्पष्ट करता हुआ पुनः कहता है कि जो ऐसा मनुष्यका शरीर पाकर जो भगवच्चरणारविन्दका भजन किया तो सफल है, न किया तो व्यर्थ है इस बातको "त्वदनुपथम्"इस श्लोकसे कहते हैं । चिड़ियोंके घोसलोंके समान यह मनुष्यशरीर आपके अनुवर्त्ती होकर आपके भजन आराधनमें परायण हो गया तो आत्माके प्रिय और सुहृदका आचरण करता है । अर्थात् हमारे लोगोंके समान है । यदि आपकी उपासना निर्हेतुक न कर केवल इन्द्रिय संसारी विषयसुखप्राप्त्यर्थ किये तो अपने आत्माका ही घात करते हैं, क्योंकि विषयादिकोंकी सेवाका परिणाम वृक्षादिकोंके समान जड़ताको पैदा करनेवाला है । अतः विषयसुखप्राप्त्यर्थ आपकी उपासना करनेवाले आत्मघाती हैं । खेदका विषय तो यह है कि अतिशय गुणवान् मनुष्यका शरीर पाकर भी आपका भजन नहीं करते । आप अपने ही आनन्दमें मग्न रहते हैं अतएव सभीके कल्याण कर्त्ता प्रिय आत्मा और आनन्ददाता है तो भी आपको नहीं भजते । "तथोन्मुखे" इस पाठका अर्थ है कि यदि आपके सेवनमें मनुष्यकी थोडी भी प्रीति हो गयी तो आप उस पर कृपा करनेमें सदा तत्पर रहते हैं । यदि कहिये कि मेरा भजन न करने वालोंका क्यों शोच करते हो! इसमें कहते हैं खेद करनेका कारण है कि जीवगण प्रत्येक जन्मोंके भोगनेसे अवशिष्ट उत्तरोत्तर

शरीरको देनेवाले कर्मोसे एक शरीरसे एक दूसरे शरीरको देनेवाले अपने कर्मोंसे संयुक्त होकर अत्यन्त भय है जिसमें ऐसे संसारमें कुत्ता सूकर गर्दभ शृगालादि निन्द्य योनियोंको बारंबार धारण करते हैं। अतएव निन्द्य शरीरोंके धारण करनेवाले सदा शोचनीय हैं। यदि कहो कि अनुशय शब्द जीवोंका वाचक कैसे हो सकता है? क्योंकि, अनुशय तो पूर्वजन्मके भोगसे अवशिष्ट कर्मका नाम है, सो कहते हैं, भोगनेसे अवशिष्ट कर्म अनुशय कहा जाता है उस कर्मको जो भोगी वह अनुशयी कहा जाता है, (अनुशयवान् कहाता है) किन्तु यहां पर वतुप्प्रत्यय न कर अच् प्रत्यय आर्ष है ॥ २२ ॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि
यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः।

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजः	प्राणवायु, मन, नेत्रादि इन्द्रियोंको जीतकर उपासनात्मक दृढ़ योगमें कटिबद्ध
मुनयः-हृदि यत्-उपासते	मुनिजन हृदयमें जिस रूपकी उपासना करते हैं
तदरयोऽपि-स्मरणात्-ययुः	उसी रूपको शत्रुलोग भी रिपु बुद्धिसे स्मरण कर प्राप्त होते हैं।
उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः	सर्पराज वासुकीके शरीर-समान भुजदण्डोंमें मन लगाकर
स्त्रियः अङ्घ्रिसरोजसुधाः वयम्	स्त्रियां भी उसीको प्राप्त हुई हैं। आपके चरण कमलामृतको पान करनेवाले हम वेद लोक
अपि समदृशः ते समाः	भी निम्नोन्नत भावसे रहित आपको सभी चराचर प्राणियोंमें सम बुद्धि करके आपको प्राप्त होते हैं।

विशदार्थः।

अस्तु, जो आपका भजन नहीं करते तो दूर गये, किन्तु विशेष खेदकी बात तो यह है कि जो आपके साथ वैर भी नहीं करते, क्योंकि विलक्षण वृत्तिवाले आपके साथ विद्वेष भी आपकी प्राप्तिका साधन कारण है, इस बातको सदृष्टान्त सोदाहरण "निभृतमरुन्मनोक्ष-" इस श्लोकसे कहते हैं। प्राणवायु, मन, बुद्धि, नेत्रादि इन्द्रियोंको जीतकर जो आपके उपासनात्मक दृढयोगमें

तत्पर मुनि लोग हृदयमें उपासना कर जिस आपके स्वरूपको प्राप्त होते हैं, उसी स्वरूपको शत्रुलोग अनुक्षणमें रिपुबुद्धिसे स्मरण करके प्राप्त होते हैं। वैसे ही स्त्री (गोपी) जन भी शेषके शरीरके समान आपके भुजदण्डोंमें अतिशय आसक्त होकर उक्त स्वरूपको प्राप्त हुई हैं, क्योंकि आपके स्मरणसम्बन्धी विष विचित्र है अर्थात् जिस किसी विषयसे आपका स्मरण करनेसे आपको प्राप्त होते हैं। जादे क्या कहें? मैं वेद हूँ ऐसा अभिमान रखनेवाले आपके चरणारविन्दका गुणगान ही है भोग्य जिनका ऐसे हम वेदगण भी आपके चरणकमलोंको प्राप्त होकर उन्हींको प्रकाश करते हैं। अथवा आपके श्रीचरणकमलोंका पान करते हैं यथेष्ट अनुभव करते हैं। आपमें प्रमाण होनेसे आपके अत्यन्त समीप है अतः हम वेदगण आपके प्रकाशक हैं [सुधा यह धेट् धातुसे बना है] भुक्त होनेसे आपके सदृश जो मुनिजनके तरह हम लोग भी प्रतिपादनके विषय (पात्र) भूत आपको ही अर्थसे और तात्पर्य्यसे प्राप्त होते हैं। अर्थ और तात्पर्य्यका माने यह है कि जैसे आपके प्रतिपादनमें अर्थ क्या है ब्रह्मको जानना, ब्रह्मको जाननेका तात्पर्य्य क्या है ब्रह्मको जानकर मुक्त होना, क्योंकि परमात्मज्ञानके विना मुक्ति होना दुर्लभ है। अतएव हमलोग यज्ञादिकोंके द्वारा जो जो जिस जिसके आराधनका प्रतिपादन करते है वे केवल उद्देशमात्र उन सबका तात्पर्य आपकी प्राप्तिमें है। 'समदृशः' इस पदसे आपके कारणकी सूचना करते हैं। समस्त जनोंमें समबुद्धि—यह बड़ा है यह छोटा है इस व्यवहारसे रहित, वैषम्य और नैर्घृण्य दोषसे रहित, उपासना, आराधना आदिकोंके व्याजसे भक्तजनोंको स्वीकार करनेवाले शुद्धसत्त्व गुणके आगार सब प्राणियोंपर दया करनेवाले आपको सभी बराबर है ॥ २३ ॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं यत
उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन्नचासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमपकृष्य शयीत यदा ॥ २४ ॥

॥ अन्वयार्थः ॥

अवरजन्मलयः को नु	आपसे जन्म लेकर आपमें ही लीन होनेवाले इस लोकमें कौन?
अग्रसरं-(निगमेन विना)वेद	सभीके पूर्वमें स्थित आपको वेदशास्त्रके विना जानता है,
यतः ऋषिः उदगात्	जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है,
यम्-अनु-उभये-देवगणाः-	जिस ब्रह्मासे निवृत्ति (मोक्ष) मार्गमें स्थित सनकादि, और प्रवृत्ति (संसार निर्माण) मार्गमें स्थित मरीचि आदि दोनों देवगण

(उदगुः) यदा शास्त्रम् अपकृष्य	हुए हैं जब शास्त्रको हृदयमें स्थापित कर प्रलय कालमें
शयीत तर्हि न सत न असत	सोते हैं तब सत्कार्यावस्थामें चित्पदार्थ नहीं था न तो असत्कार्यावस्थामें जड़ पदार्थ ही था
उभयं-न च कालजवः-	जड़ और चेतन दोनोंसे युक्त कार्य भी नहीं था न तो कालका वेग ही था। जियादा क्या कहैं
तत्र किमपि न (आसीत्)	उस समय-कुछ भी नहीं था।

विशदार्थः।

"अङ्घ्रिसरोजसुधाः" इस २३ वें श्लोकके चतुर्थ पादसे परमात्मस्वरूप और स्वभावका प्रकाशक वेद शास्त्र कहा गया है, अब उस वेदके विना परमात्माका निरूपण अति कठिन है, इस बातको कारणपूर्वक 'क इह नु' इस श्लोकसे कहते हैं। आपसे ही जन्म लेकर आपमें हीं लीन होनेवाले इस लोकमें कौन पुरुष सृष्टिके पूर्वसे ही सूक्ष्म रहते जड़ चेतनसे युक्त कारणरूपसे वर्त्तमान आपको वेदशास्त्रके विना जानते हैं, कोई भी नहीं जानते। विस्मयकी बात है कि "जिसका[1] प्रतिपादन करनेमें मन और वचन समर्थ न होकर लौट आते हैं" इस श्रुतिके कथनानुसार परमात्माका मन और वचनसे भी प्रतिपादन नहीं हो सकता। उसके जाननेका उद्योग करते हैं। सब प्राणी आपसे ही उत्पन्न होकर आपमें ही लीन होते हैं इस विषयको दिखाते हैं। आपके नाभिकमलसे आदि ऋषि ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, पुनः ब्रह्मासे निवृत्ति (मोक्ष-धर्ममार्ग)परायण सनकादि और प्रवृत्ति (संसारनिर्माण) धर्मनिष्ठ मरीचि आदि प्रजापति, ये दोनों देवगण उत्पन्न हुए, तत्पश्चात् मनुष्य उत्पन्न हुए हैं, अतः आपको कैसे जान सकते हैं। आप सभीसे पूर्ववर्त्ती हैं इस बातको कहते हैं—जब आप सबको खींचकर हृदयमें धारण कर शयन करते हैं उस सृष्टिके पूर्व प्रलय कालमें सत्कार्यावस्थामें स्थित चेतनपदार्थ अर्थात् देवमनुष्यादि शरीरधारी जीवगण और असत्कार्यावस्थामें स्थित जड़ पदार्थ अर्थात् महत् अहंकारादि तत्त्वरूप अचेतन नहीं थे और चेतन अचेतनसे मिश्रित कार्यरूप जगत भी नहीं था और कालादिकोंको लेकर जो कुछ सृष्टिका विषय है वह कोई नहीं था, कहांतक कहें उस समय कुछ भी नहीं था। 'प्रलयकालमें[2] यह जड़ चेतनात्मक जगत् न सद्रूप था, न असद्रूप ही था किन्तु सत् असतसे विलक्षण था।' 'केवल[3] एक नारायण ही थे'। 'न[4] ब्रह्मा थे न शङ्कर, न तो यह पृथिवी ही थी' यह श्रुति यहां पर ग्राह्य है। यद्यपि पितासे पीछे जन्म लेनेवाले पुत्रादिक पूर्व होनेवाले पित्रादिकोंको जानते हैं कि मेरा पिता इस गुण, रूप, आकारका था तथापि परमात्माका स्वरूप मन और वचनसे अतीत है और परमात्माके पीछे जन्म मरणको प्राप्त होनेवाले चेतनगण उसकी मायासे मोहित होतेहुए

१ यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। २ नासदासीन्नो सदासीत्। ३ एको वै नारायणआसीत्। ४ न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिवी।

भी उसीके अनुग्रहसे ज्ञानवान् होते हैं, अतएव इस परमात्मा आपके जाननेमें सर्वथा असमर्थ हैं। "तर्हि न सन्न चासत्" यह श्रुति इस बातको पुष्ट करती है कि सृष्टिके पूर्व अर्थात् लयकालमें, सत्कार्य्यावस्थामें स्थित सत् अर्थात् देव मनुष्यादि शरीर धारी चेतनगण असत्कार्यमें स्थित असत् पदार्थ अर्थात्, महत् अहंकारादि तत्त्वरूप अचेतन नहीं थे। इन दोनोंका निषेध कर श्रुति इस बातको कहती है कि लय कालमें नामरूपके विभाग करनेके अयोग्य कारण अवस्थामें स्थित चेतनअचेतनरूप विशेषण युक्त ब्रह्मको सभीसे अग्रसर कहनेसे सूक्ष्म माया जीव विशेषण युक्त ब्रह्मात्मक सत्पदार्थकाही स्थूलजड़चेतन–विशेषणयुक्त सत्पदार्थको कार्यावस्थामें स्थित होनेकी सिद्धि होती है। अतः कार्य सत् है यह बात सिद्ध हो गयी २४

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ॥
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः।

ये असतः जनिं च	नय्यायिक लोग जो पदार्थ नहीं है उसके प्रगट होनेको उत्पत्ति कहते हैं और
सतः मृतिं स्मरन्ति	जो पदार्थ वर्त्तमान है उसके नष्ट होनेको मरण कहते हैं।
ये--आत्मनि-भिदां स्मरन्ति	चार्वाक लोग आत्मामें ही छोटा बड़ा दुर्बल और पुष्टादि भेद मानते हैं
ये विपणम् ऋतं स्मरन्ति	मीमांसक लोग देवोंके यज्ञ करो देवलोग स्वर्ग देवेंगे, इस बजारके तुल्य लेने देने रूप कर्मफलको सत्य कहते हैं,
ते आरुपितैः उपदिशन्ति	उक्त नैयायिकादि लोग अपनी अपनी युक्तियोंके द्वारा कहते हैं, श्रुत्यादिक प्रमाण बलसे नहीं
पुमान् त्रिगुणमयः	निरीश्वरवादी सांख्यवेत्ता लोग तीनों गुणोंसे परिपूर्ण जीव ही है, उससे अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है, ऐसा कहते हैं
इति--भिदा यदबोधकृता	ऐसा उक्त मतभेद आपको यथेष्ट न जाननेसे अज्ञानवश है,

ततः परत्र अवबोधरसे } पूर्वोक्त सत् असत् वाचक प्रकृति पुरुषसे परे (विलक्षण ज्ञान स्वरूप)

त्वयि-न भवेत् } आपमें यथेष्ट ज्ञान होनेपर उक्त मतभेद नहीं होते।

विशदार्थः।

अब श्रुतिसे सिद्ध सत्कार्यका खण्डन करनेवाले अप्रमाणित और शास्त्रविरुद्ध असत्कार्यवादियोंके मुख्य सिद्धान्तको 'जनिमसतः' इस श्लोकसे कहकर दूषित भी करते हैं। जो पदार्थ नहीं है उसके पैदा होनेको उत्पत्ति कहते और जो पदार्थ वर्तमान है उसके नष्ट होनेको मरण कहते है। इस तरह कार्यको असत् कहना यह नैयायिकोंका मत है। जो कार्य आत्मामें ही छोटे बड़े दुर्बल स्थूल मनुष्य और पशु आदि भेद मानते हैं वे चार्वाक हैं, क्योंकि वे शरीरको ही आत्मा मानते हैं, यह चार्वाकोंका मत है। देव और मनुष्योंको एक एकके उपकारसे उपार्जित बनियोंके रोजगारके समान यज्ञभाग और स्वर्गप्राप्ति देनेवाले कर्मफलको नित्य कहते हैं, अर्थात् जब मनुष्यगण यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन कर भाग देते हैं तब देव लोग वृष्टि कर धान्यवृद्धि और अंतमे स्वर्गवास सुख देते हैं। इसको विपण याने वणिकके रोजगार (व्यापार) समान कर्म फल कहते हैं। जैसे ग्राहक बनियोंको द्रव्य देकर अपने आवश्यक सामानको लेते हैं ऐसे ही कर्मफल हैं। इस कर्मफलोंको मीमांसकवर्ग सत्य कहते हैं। यह मीमांसकोंका मत है। सभी उक्त नैयायिकादि केवल स्वमनमें ही नहीं विचार करते किन्तु स्वबुद्धिविलासाडम्बरयुक्तिसे स्वस्वविचारका स्वशिष्य प्रशिष्योंको उपदेश भी करते हैं। 'तमारुपितैः' इस पाठभेदमें अर्थ है कि अपने अपने मतका स्वस्वयुक्तिवादोंसे उपदेश करते हैं। और सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे परिपूर्ण पुरुष जीव ही है, जीवसे अन्य ईश्वर नामक कोई नहीं है। ऐसा 'निरीश्वर' सांख्यवादी मानते हैं। इन उक्त मतोंमें "इति भिदा" यहांसे लेके श्लोकान्त तक साधारण दोष देते हैं। इसतरहका मतभेद परमात्माके विषयमें ठीक ठीक ज्ञान न होनेसे है। अर्थात् उक्त मतावलम्बियोंकी ज्ञानबुद्धि अनादि कालके कर्म और प्रकृतिबश नष्ट हो जानेसे आपको ठीक ठीक न जानकर मनमानी कहा करते हैं। किन्तु वेदान्ती जन तो यही कहते हैं कि सूक्ष्म माया जीव विशेषण युक्त आपका शरीर ही जो सत्पदार्थ, वही पूर्ण सूक्ष्म कारणरूप जगदाकार रहता है। पुनः वही स्थूल अवस्था-रूपमें होनेसे कार्यरूप दीख पड़ता है। और प्रथम स्वरूप अवस्थाको त्यागकर एक दूसरे स्वरूप अवस्थाकी प्राप्तिको मरण कहते हैं, अतः कार्य सत् है। और यज्ञादिकर्मसे स्वर्ग-प्राप्ति तथा पुण्य-क्षय होनेसे, पुनः संसारदुःख होनसे कर्मफल भी अनित्य है। परमात्माका यथेष्ट ज्ञान होनेसे इस संसारका आवागमन छूट जाता है अतः ब्रह्मज्ञान नित्य है। जो गुण चेतनोंमें नहीं हो सकते ऐसे गुणोंसे परिपूर्ण है, सर्वज्ञता, अन्तर्यामिता, सत्यसंकल्पता (जिस २ पदार्थकी आकांक्षा करना उस २

को उपस्थित देखना), सर्व जगत् कर्त्ताओंके स्वामियोंका स्वामी, इत्यादि गुण स्वभाव शील परमात्मा, जो कि देवमनुष्यादि शरीरसे विलक्षण है ऐसे परमात्माके न जाननेवालोंके अनेकानेक मत भेद हैं। यदि कहो कि कारणसे कार्यमें दूसरे नाम बुद्धिसे व्यवहार होता है जैसे कारणरूप मिट्टीके कार्यरूप घटमें मिट्टीको छोड़कर घटनाम और जल भरण आदि व्यवहार होते है अतः कारण और कार्यमें भेद हैं। इससे कार्य असत् ही उत्पन्न होता है अर्थात् जो पहिले नहीं था वही उत्पन्न होता है यह हमारा कथन ठीक है। यदि कहो कि कारण ही कार्य है तब तो घट शरावादि कार्य बनानेवाले कुम्हार चक्र दण्डादि सब व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि जब स्वतः कारण मिट्टी ही घट शरावादि कार्यरूप सिद्ध है तब बनानेवालेकी कोई जरूरत नहीं है। और कारण ही कार्य होनेसे सब पदार्थ सर्वदा बनें रहेंगे, तब जो कहते हो कि कार्य उत्पन्न होता है और नहीं होता है यह विभाग न बनेगा, क्योंकि सब घट शरावादि कार्य सर्वदा ज्योंका त्यों बने रहेंगे। अथवा यदि कहो कि सत् कार्य ही पूर्व प्रगट नहीं था पुनः करनेवालेके उद्योगसे प्रगट होता है अतः करनेवालेके व्यापारको ही नित्य अनित्यका विभाग कहो अर्थात् जब करनेवालेका उद्योग होता है तब कार्य प्रगट होता है। व्यापार न होनेसे नहीं प्रगट होता, सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि कार्यके प्रकाश (प्रगट) का प्रकाश पुनः उसका प्रकाश ऐसे उत्तरोत्तर कहते कहते आपके सत्—कार्यवादकी स्थिति ही न बनेगी। यदि करनेवालेके उद्योगकी आकांक्षा न करेंगे अर्थात् कर्त्ताके व्यापारसे कार्य नहीं होता किन्तु स्वतः कार्य सिद्ध मानोगे तो सब कार्य सर्वदा बने रहेंगे, अतः लय न बनेगी। यदि उत्पत्ति मानोगे तो सत् कार्य न सिद्ध होकर हमारा असत्कार्यवाद सिद्ध हो जावेगा।

अतः जो कार्य वर्त्तमान नहीं है उसकी उत्पत्तिके लिये कारणमें व्यापार करना अवश्य समझते हो तो हमारे असत्कार्यवादकी सिद्धि हो जावेगी सो तो ठीक है किन्तु ऐसा कहनेसे असत्कार्यवादीका भी कर्त्ताका व्यापार सार्थक न होगा, क्योंकि उत्पत्तिके पहले तो कार्य नहीं था अतः जो कार्य जिस द्रव्यसे उत्पन्न होता है उस द्रव्यको छोड़कर कर्त्ताका व्यापार अन्यत्र होने लगेगा, क्योंकि वहांपर यह नियम नहीं है कि इस द्रव्यसे यह पदार्थ होगा अतः सूत्रमें व्यापार करनेसे घट और मिट्टीमें व्यापार करनेसे वस्त्र होने लगेंगे; सो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जो कारण जिस कार्यके उत्पन्न करनेमें समर्थ है उसी कारणमें करनेवालेके व्यापारसे वही कार्य उत्पन्न होगा न कि मिट्टीसे वस्त्र और सूतसे घट, इससे असत्कार्यवाद सिद्ध होगया। पुनः असत्कार्यवादको खण्डन करते हुए सत्कार्यवादको कहते है—सत्य ही सोना मिट्टी आदि पदार्थोंकी अवस्थाओंके चूड़ा, कुण्डल, घट, शरावादि अवस्थाओंके भेदमात्रसे अर्थात् सोना मिट्टीका नाम छोड़कर चूड़ा, कुण्डल, घट, शरावादि नाम (शब्द) बुद्धि भेद से होते है सो केवल इतनेही से असत्कार्यवाद सिद्ध न होगा। क्योंकि चूडा, कुण्डल, घट, शरावादि अवस्थामें स्थित सोना और मिट्टी ही है इनसे उक्त चूडादि अन्य नहीं है। जैसे देवदत्त बालक, युवा

और वृद्ध है किन्तु बालक देवदत्त दूसरा और युवा वृद्ध दूसरे दूसरे नहीं हैं केवल अवस्थाभेद होनेसे बालक, युवा, वृद्ध कहे जाते हैं। ऐसी ही उक्त द्रव्योंकी अवस्था है। इन चूडा घटादि अवस्थामें वर्त्तमान उक्त सोना मिट्टी आदि पदार्थोंके अनेक नाम और चूड़ा, कुण्डलसे शृङ्गार, घटसे जल भरणादि कर्म्म भी और सोना मिट्टी आदि पदार्थोंके चूडा घटादि अवस्थाकी सिद्धि करनेवालेके व्यापारसे होती है। यदि कार्यके प्रगट रूप उत्पत्ति माननेमें आपका कटाक्ष है, तो उस कार्यकी उत्पत्ति न मानकर अवस्थाभेदसे ही सत्कार्यवाद सिद्ध होकर आपके असत्कार्यका खण्डन करता है। और उत्पत्तिके माननेपर भी सत्कार्यवादका विरोध न होगा, क्योंकि सत्पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है। यदि कहो कि यह आपका कथन लोकसे बिल्कुल विरुद्ध है कि जो आप कहते हैं कि कार्य उत्पत्तिके पूर्वसेही सत् है किन्तु पुनः उत्पन्न होता है। और यह सारा जगत् देख रहा है कि मिट्टीमें प्रथम घट नहीं था पुनः उद्योग करनेसे उत्पन्न होता है और उत्पन्न होनेके पश्चात् नष्ट हो जाता है; यदि यह भी कहो सो भी ठीक नहीं, क्योंकि मिट्टी आदि द्रव्योंका पूर्व पूर्व अवस्था त्यागकर अन्य अन्य अवस्थाका आश्रयण करनेसे पूर्व त्याग की हुई अवस्थाका नाश कहते हैं। और पूर्व अवस्थाको त्यागकर जिस अवस्थामें स्थित हो उसकी उत्पत्ति कहते हैं। जैसे प्रथम मिट्टीके चूर्णकी जल संयोगसे पिण्डाकार अवस्था हुई, ततः घटावस्था हुई, ततः अग्निसे योग, पश्चात् जल भरण किया हुई, पुनः कालान्तरमें चूर्णावस्था हुई इन्हीं अवस्थाओंका उत्पत्ति और नाश कहते हैं। किन्तु वह सर्व अवस्थाओंमें मिट्टीका मिट्टी ही है अतः सत्कार्यवादमें कोई क्षति नहीं हो सकती। यदि कहो कि मिट्टीमें घड़ेकी स्थिति असत् रूपसे है अतः असत्की ही उत्पत्ति होती है ऐसा कहनेसे असत्कार्यवाद सिद्ध हो जायगा। इस तरह कहो तो असत्कार्यवादियोंकी भी उत्पत्तिकी उत्पत्ति न माननेसे सत्कार्यवाद सिद्ध हो जावेगा। और उत्पत्तिको उत्पत्तियुक्त माननेसे भी आपके असत्कार्यवादकी स्थिति ही न बनेगी, क्योंकि एक उत्पत्तिसे एकको युक्त पुनः उससे उसको युक्त मानते मानते अनवस्था हो जावेगी। और हमारे लोगोंके सिद्धान्तमें तो उत्पत्तिके स्थानमें कारण रूप मिट्टीके ही घट शरावादि अवस्थाओंके माननेपर कारणसे पृथक् कार्यकी सिद्धिकी योग्यता ही नहीं हो सकती, अतएव घट शरावादि अवस्था युक्त कारण ही की, उत्पत्त्यादि माननेसे हमारा सर्व सत्कार्यवाद सर्वथा निर्दोष है। " यहांतक असत्कार्यवादका खण्डन है"। इसी तरह देहात्मवादी चार्वाकके मतका खण्डन है। यह मेरा शरीर है, मेरा शिर दुखता है, मेरे चरणमें पीडा है, इस तरह बातोंके व्यवहारसे प्रत्यक्ष ही देहसे आत्मा पृथक् है यह निश्चय होता है, क्योंकि देहको देह ही कैसे कहेगा कि यह मेरा शरीर है अर्थात् नहीं कह सकता, अतः अहंशब्दका अभिमानी आत्मा शरीरसे भिन्न है जो कि कहता है कि यह मेरा

शरीर है। शरीरसे आत्मा पृथक् है इस बातको श्रुति भी कहती है कि 'आत्मा नित्यसे[1] नित्य है चेतनसे चेतन है'। स्मृति भी है—"आत्मा[2] न मनुष्य है न तो देव है।" इन उक्त श्रुति-स्मृतियोंसे आत्माको देव मनुष्य कह निषेध कर पृथक् प्रतिपादन किया है, अतः शरीरको ही आत्मा माननेवाले चार्वाकका यह अज्ञान है। इस तरह चार्वाकमत खण्डनीय ही है, अतएव "जैसे—[3]कर्मफलसे उपार्जित फल यह लोक नाशवान् है ऐसा ही पुण्यसे उपार्जित स्वर्गादिसुख भी नाशवान् है, क्योंकि उपरोक्त श्रुति स्वर्गादि फलको अनित्य प्रतिपादन करती है" और भी है, हे दाक्षायण! स्वर्गलोक प्राप्तिके लिये यज्ञ मत करो, क्योंकि स्वर्गादि फल अनित्य है। श्रुतियोंने आवागमनका विधान किया है अतः कर्मफल अनित्य सूचित होता है अतः जो कर्म—फल नित्य कहते है वे कथन अज्ञानपूर्ण है। यह कर्मफल नित्यवादी मीमांसकोंका खण्डन है। "जो[4] सर्व जगत्का अन्तर्यामी है, जो सर्व विश्वका वेत्ता है जिसकी इच्छा व्यर्थ नहीं होती, जिसकी प्रतिज्ञा सत्य है।' 'जिसकी शक्ति[5] श्रुतियोंसे नाना-प्रकारकी कथित है, जिसके ज्ञान बल और क्रिया स्वाभाविक सिद्ध है' जो सम्पूर्ण इन्द्रियों[6]के स्वामियोंका स्वामी है, जिसका न कोई उत्पन्न करनेवाला है न स्वामी ही है"। ईश्वरके विषयमें इत्यादि अनेकों श्रुतियां प्रमाण करती हैं। अतः जो निरीश्वर सांख्यवादी तीनो गुणोंसे युक्त जीवको मानकर ईश्वरको नहीं मानते तो उक्त श्रुतियोंसे उनके मतका खण्डन हो गया। इसप्रकार इन उन मतभेदवादियोंका मत अज्ञानकृत है, क्योंकि परमात्मा तथा आत्माका यथेष्ट ज्ञान न होनेसे इसप्रकार मतभेद है। जिनको भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं है उनके मतको खण्डन कर अब जिनको भगवत्तत्त्वका ज्ञान हो गया है उनको उपरोक्त मतवादियोंके समान कभी भ्रान्ति नहीं होती। इस बातको 'त्वयि न ततः' यहांसे लेकर श्लोकान्ततक कहते है। एवं पूर्वकथित कार्य कारण वाचक प्रकृति और जीवसे विलक्षण ज्ञानस्वरूप ऐसे आप (परमात्मा) का ठीक ठीक ज्ञान होनेपर वह अज्ञान जो उक्त मत भेदका कारण है सो नहीं होता ॥ २५ ॥

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्,
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः।
नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ २६ ॥

---

१ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्। २ पुमान्न देवो न नरः। ३ तत् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते नास्त्यकृतः कृतेन। ४ यः सर्वज्ञः सर्ववित् सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः। ५ परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। ६ करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।

अन्वयार्थः ।

आ मनुजात् त्रिवृत् मनः सदिव	मनुष्योंसे लेकर यावत् शरीरधारी हैं उनका त्रिगुणात्मक मन सत्यके समान प्रतीत होते हुए भी
मनः त्वयि असत् विभाति	आपके प्रतिपादन करनेमें असत्य दिखाई दे रहा है ।
आत्मविदः अशेषम् इदम्-आत्मतया	आत्मज्ञानी लोग समस्त इस जगत्को परमात्माके (परमात्माका शरीर) होनेसे
सत् अभिमृशन्ति तदात्मतया	सत्य कहते हैं, सुवर्णात्मक (सुवर्णसे बने हुए) होनेसे
कनकस्य विकृतिं नहि त्यजन्ति	सुवर्णके विकारको नहीं त्यागते (सुवर्णसे बने हुए चूडा, कुण्डल सुवर्णसे अन्य पदार्थ नहीं हैं)
हि स्वकृतम् इदम् आत्मतया	अतएव अपने ही से रचे हुए इस जगतमें आत्मरूपसे
अनुप्रविष्टम्-अवसितम्	प्रवेश करके (आप) व्याप्त रहते हैं ।

विशदार्थः ।

यदि कहो कि अज्ञान होनेका कारण क्या है ? तो केवल मनका दोष ही अज्ञानका कारण है । यदि कहो कि उस मनके दोष और संसारसे निवृत्तिका कारण क्या है? तो परमात्माका उपासनारूप योग ही कारण है, क्योंकि जिनका भगवदाराधनसे हृदय शुद्ध हो गया है वे लोग सर्वजगत्का आत्मा परमात्माका होनेसे इस जगत्को सत्य देखते हैं । क्योंकि कारण अवस्थामें सूक्ष्म जड़ चेतन विशेषण युक्त ब्रह्म ही कार्यावस्थामें स्थूल प्रकृति जीवरूप विशेषण युक्त होता है । अतः कारणरूप परमात्माका कार्य जगत् है, अतएव जगत्को ब्रह्मसे पृथक् नहीं देखते, क्योंकि कार्य कारणसे भिन्न नहीं है जैसे मिट्टी और घट । ऐसा कहती हुई श्रुतियाँ, सत् कारण और सत्कार्यवादके दोषोंको परिहार करती हुई असत्कार्यवादकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती इस बातको 'सदिव०' इस श्लोकसे कहती हैं । मनुष्योंसे लेकर यावत् शरीरधारी हैं उन सबोंका रज तम सत्त्व इन तीन गुण युक्त मन अर्थ क्रिया युक्त कार्य करनेवालेके समान प्रतीत होनेपर भी आपके प्रतिपादन करनेमें असमर्थ असत् देख रहा है, क्योंकि जीव मायारूप विशेषण युक्त आपका प्रकाश नहीं करता । तात्पर्य यह है कि मलिन मन मलिन सांसारिक वस्तुओंका ही

प्रकाश करता है,आपको प्रकाश नहीं कर सकता। आपको तो शुद्धही मन प्रकाश करेगा। मनका मुख्य कार्य आपका जानना ही है, सो जड चेतन विशेषण युक्त आपको नहीं जानता। अखिल ब्रह्माण्डके आत्मा आपको जाननेवाले आत्मज्ञानी, जिनका आपके उपासनात्मक योगसे अन्तः-करण और मन शुद्ध हो गया है वे लोग इस समस्त जगत्को ब्रह्मात्मक (ब्रह्मशरीर) होनेसे सत् देखते है, क्योंकि आत्मशब्द यहांपर परमात्मवाचक है,और "अजया आत्मना च चरतः" इसके अनुसार सत्य ही देखते हैं। सत् और असत् शब्दसे कहे जानेवाला अति सूक्ष्म चेतन और अचेतन विशेषणयुक्त जगत्का कारण ब्रह्म ही कार्यभूत जगत्रूपसे स्थित है, अतः उस ब्रह्मसे अन्य जगत् नहीं है, अतः जड चेतनात्मक जगत् ब्रह्मका विशेषण होनेसे उपासना-समयमें भी जगत्का ब्रह्मके अन्तर्गत रहनेसे ही सत्त्वरूपसे जगत्का ग्रहण करने योग्य ही आत्मज्ञानी लोक देखते हैं। ब्रह्मात्मक होने ही से जगत् सद्रूपसे स्वीकार्य है, इस विषयको 'नहि कनकस्य' इस दृष्टान्तसे दिखाते हैं। सुवर्णके विकार (कार्य) चूडा, कुण्डल सुवर्णताको नहीं छोड़ते (सुवर्णसे दूसरे नहीं होते), क्योंकि वे सुवर्णात्मक ही है अर्थात् सुवर्णसे बने होनेस कार्यावस्था-में भी सुवर्णसे अन्य नहीं ग्रहण होते, किन्तु सुवर्ण ही ग्रहण होते है। अतः यदि कारणसे कार्यको अन्य मानोगे तो सुवर्णसे बने हुए कंकण, मुकुटोंका भी सुवर्णसे पृथक् अन्य पदार्थ मानना पड़ेगा। अतः कार्य कारण एक ही पदार्थ है। अतः असत्कार्यवादको खण्डन कर ब्रह्मका कार्य जगत् सद्रूपसे ही ग्राह्य है। इस बातको "स्वकृत" इस पदसे कहते हैं। कदा-चित् ब्रह्मके निर्विकार स्वरूपमें यह शंका न उठ खड़ी हो कि ब्रह्म विकारी है ? इस सन्देहके निवृत्त्यर्थ अपने क्रीडार्थ स्वतः जगत्को निर्माण कर प्रवेश कहा है, ऐसा कहनेसे सत्कार्यवादका दूषणोद्धार भी हो गया। मूलमें स्वशब्द परमात्मवाचक है,अतः परमात्मा स्वयं संसारका निर्माण कर पुनः उसमें प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त है। "ब्रह्म यह जगत् उत्पन्न कर उसीमें प्रवेश किया है" यह श्रुती भी है। अतः यह जगत् ब्रह्मरूपसे (ब्रह्मशरीर) निश्चय किया गया है, क्योंकि उपास्यभूत परमात्मा इस नामसे कहे जानेवाला ब्रह्म ही इस जगत्रूप वस्तुके अन्त-र्व्याप्त होनेसे सुखस्वरूप निश्चय किया गया है। वह ब्रह्म स्वयं अपने शरीरको जगत्रूप किया इससे यह जगत् सुकृत कहा जाता है और आगे श्रुति भी है। "वहे ब्रह्म आनन्द रस-रूप है, इस ब्रह्मरूप रसको पाकर उपासक लोक आनन्दको प्राप्त होते हैं।" यद्वा परमात्मा इस जगत्के अन्तःकरणमें धारकरूपसे प्रवेश कर प्रेरणा करता है। अन्तःप्रवेश करके धारण करना यह आत्मशब्दका अर्थ है। "अवसितम्" अर्थात् वह ब्रह्म जगत्में व्याप्त होकर स्थित है, इस पदसे ब्रह्म आकाशके समान चुप्प गुप्प नहीं व्याप्त है किन्तु जगत्के धारकरूपसे व्याप्त है यह बात कही गई है। अतएव इस जगत्को सतरूप ही जानते है इस बातको भी सूचना की गई है। जीव और मायाका ब्रह्मके साथ कथन किया है,वह शरीर-

१ "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।" २ "रसो वै स रसः रसमेवायं लब्ध्वानन्दीभवति।"

शरीरीभाव दिखानेके लिये है अर्थात् जीव और माया ब्रह्मके शरीर हैं और ब्रह्म दोनोंका आत्मा है ॥ २६ ॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिराविबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः ।

अखिलसत्त्वनिकेततया	सर्व प्राणियोंका परमात्मा आधार है इस भावनासे
तव-ये-परिचरन्ति	आपकी जो उपासना करते हैं
ते-उत-निर्ऋतेः शिरः अवि-गणय्य-	वे ही मृत्युके शिरका अनादर कर
पदा-आक्रामन्ति	(अनादरपूर्वक) चरणोंसे दबाकर संसार सागरसे पार होते हैं ।
अविबुधान्-गिरा-पशून् इव	और उक्त उपासनासे रहित अज्ञानियोंको शास्त्रोपदेशसे नाक नाथे बैलके समान
परिवयसे-ये-त्वयि-न-	शिक्षा उपदेश करते हैं, वे आपसे विमुख नहीं हैं ।
विमुखाः-कृतसौहृदाः-तान्	विमुख न होकर आपसे प्रेम, भक्ति और उपासना करते हैं,वे उन वेद शास्त्रके अनधिकारी स्त्री शूद्रादिकोंको भी (सहवाससे)
खलु-पुनन्ति-	निश्चयकर पवित्र करते हैं ।

विशदार्थः ।

यदि कहो कि आत्मज्ञानी लोग इस जगत्को नित्य जानते हैं सो जानते रहें; इससे तो जाननेका क्या फल है ? इस बातको "तव परि" इस श्लोकसे कहते हैं कि उक्त रीतिसे जो इस जगत्को सत्यरूपसे देखते हैं वे मृत्युरूप इस संसार सागरके पार हो जाते हैं । इसीको दिखाते हैं कि अन्तरात्मा होनेसे ही परमात्मा सर्व स्थावर जङ्गम प्राणियोंका आधार है, इस भावनासे जो आपकी उपासना करते हैं वे ही मृत्युका तिरस्कार करके मृत्युके शिर पर चरण धर संसार-

सागरके पार हो मुक्त हो जाते हैं। जो ईश्वरको उक्त रीतिके अनुसार नहीं जानते उनकी क्या गति होती है? इस शंकामें कहते हैं—जो सर्व जगत्को ब्रह्मात्मक रूपसे नहीं देखते और सर्व जगत्का आत्मा तथा आधार ब्रह्म उपासनीय है ऐसा नहीं जानते उन अज्ञानी—वर्गोंको निजवेदवाणीसे शिक्षा देकर ज्ञानवान् बनाते हैं। जैसे दुष्ट बैलको कृषक नाकमें रस्सीसे नाथकर शिक्षित करता है वैसा ही आप शास्त्रसे उपदेश कर शिक्षित बनाते हैं। यह बात पदार्थ है वह ब्रह्मात्मक है एतादृश आपके स्वरूपको जानकर भेद बुद्धिको त्यागकर आपकी उपासना करनेसे मुक्त हो जाते हैं। 'परिवयसे' इस क्रियासे परमात्माका सर्व चेतनोंपर असीम कृपालुता और अत्यन्त स्वीकार्यत्व सूचित है। यदि कहो कि वेद शास्त्रके शिक्षाहीसे अज्ञानी जन शिक्षित होकर मुक्त होते हैं तो जिनको वेद शास्त्र पढ़ने सुननेका अधिकार नहीं है उनकी क्या गति होगी? इसको 'तान्' इस पदसे कहते हैं—जो आपसे विमुख न होकर आपहीमें प्रेम भक्ति उपासना करते हैं वे जिनको वेद शास्त्र का अधिकार नहीं है ऐसे स्त्री शूद्रोंको स्वतः पवित्र करते हैं और वेदशास्त्रके अनधिकारी स्त्री शूद्र उक्त भगवदुपासक भक्तोंकी सेवा कर संसारसागरसे मुक्त हो जाते हैं। और जिनकी महात्माओंके सेवनमें भी प्रीति नहीं है उनकी अधोगति होती है॥ २७॥

त्वमरकरः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव
बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः॥
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥ २८॥

अन्वयार्थः।

त्वम्, अरकरः, स्वराट्	आप शीघ्र ही संकल्पमात्रसे संसारके कर्त्ता हैं और कर्मकी पराधीनतासे रहित हैं,
अखिलकारकशक्तिधरः,	सर्व उपादान तथा निमित्तादि कारणोंकी शक्तियोंको धारण करनेवाले आपही हो।
अजया, अनिमिषाः	आपकी मायाके परवश होकर मायासहित वर्त्तमान अग्नि पवन सूर्य इन्द्रादि देवतागणभी तथा
विश्वसृजः, च, ये, यत्र, अधिकृताः,	ब्रह्मा मरीचि आदि प्रजापति जिनको जिस कार्य करनेका अधिकार मिलाहै उसको करतेहुए
ते, भवतः, चकिताः	वे आपसे भयभीत होकर

तव, बलिम्, उद्वहन्ति समदन्ति, च,	आपका पूजन करते हैं तथा भेंट भी देते हैं और इतरोंसे स्वयं भेंट लेते हैं तथा भोगते हैं,
वर्षभुजः, अखिलक्षितिपतेः,	जैसे छोटे छोटे राजा सर्व पृथिवीके सम्राट्को भेंट देते हैं और सम्राट्से मिले हुए
इव,	राज्यको स्वतः भोगते है वैसाही देव लोग आपसे मिले हुए अधिकारसुखको भोगते हैं।

विशदार्थः ।

यदि कहो कि सर्व जगत्का कारण होनेसे ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कोई नहीं है अतएव अनन्य रूपसे जो ब्रह्महीकी उपासना करते है वे मृत्युके शिरको चरणसे आक्रमण करते हैं सो तो ठीक, किन्तु यदि उस कारणमें उपासना योग्य विज्ञानता बनी रहती है और वात्सल्यादि गुण तथा सर्वशक्तिप्राचुर्य सर्वदा एक रस रहता हो तो ब्रह्म उपासनीय है, अतः उसके गुणोंकी अधिकता 'त्वमरकरः' इस श्लोकसे कहते हैं—आप संकल्पमात्रसे जगत् रचते हैं तथा संसारोत्पादक संकल्पात्मक ज्ञानके आप आश्रयहै, इससे आपकी सर्वज्ञता सिद्ध हो गई।"त्वमकरणः" इस पाठका अर्थ है कि आप इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानसे रहित हैं, क्योंकि श्रुति कहती है कि "जो विना नेत्रके देखता है, विना श्रवणके सुनता है, जिसके कार्य शरीर नहीं है, जिसकी इन्द्रियां नहीं हैं।" "प्राकृत शरीर और इन्द्रियाधीन ज्ञानरहित, नित्य ही उपाधिरहित, सर्वज्ञताके आश्रय आप हो' यह 'त्वमकरणः' पाठका अर्थ है । आप स्वतन्त्र है अतएव कर्मवश भी नहीं हैं और कर्माधीन जीवोंके प्रेरक हैं, सर्व चेतनोंके अस्वतन्त्रताके साधक होनेसे सर्वशक्तिधारक है तथा प्रेरक भी आप ही हैं और सम्पूर्ण जगत्के निमित्त और उपादान कारण आप ही हैं, किन्तु जैसे घटका कुम्हार दण्डका चक्र निमित्त कारण और मिट्टी उपादान कारण है, ऐसा आप नहीं, क्योंकि आप दोनों कारण हैं। सम्प्रदान; उपादान, अधिकरण इन तीनों कारणोंसे जायमान जितने कारक हैं उनका, और उनकी शक्तियोंको धारण करनेवाले और प्रेरक आप ही हैं । आपकी मायासहित और मायाके वशीभूत पवन, अग्नि, सूर्य, इन्द्रादि सर्व देवता तथा संसारके रचनेवाले ब्रह्मादि प्रजापति जो जिस कार्यमें नियुक्त किये गये है वे सभी आपसे भयभीत होकर आपके लिये अपने अपने अधिकारके अनुकूल भेंट पूजा किया करते हैं और आपसे दिये हुए पदके सुखको स्वतः अनुभव करते हैं । यहांपर इन श्रुतियोंको लेना चाहिये । "हमारे भयसे पवन चलता है, सूर्य उदय होता है, अग्नि ज्वलित होती है, इन्द्र वर्षा करता है, मृत्यु प्रजाओंको कतल करती है, जो कुछ यह समस्त जगत् है उसमें प्राणवायु

१ पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।

कम्पायमान होता है और नियमसे चलता है, जिससे महान भय लिये हुए वज्रके समान है। (जैसे भृत्य स्वामीको तीक्ष्ण दण्डधारी देखकर नियमानुसार कार्य करता है, वैसा ही इन्द्रादि आपसे भयभीत होकर रहते हैं)जो ऐसा जानते हैं वे अमृत अर्थात् जरामरणादि क्लेशसे छूट· कर मुक्त हो जाते हैं।" इन श्रुतियोंका तात्पर्य यहां ग्राह्य है। इस श्रुतिमें प्राणशब्दसे निर्दिष्ट परमात्मामें स्थित सर्व जीवोंका तथा देवादि-शरीरधारी जीवोंको परमात्मासे होनेवाली महद्भयसे कम्पित होते रहते हैं, अर्थात् उनको यह भय बनी रहती है कि यदि हमसे किसी कार्यमें त्रुटि होगी तो दण्डके भागी होंगे। अतः आपकी आज्ञा उल्लंघन करनेसे क्या दशा होगी, विना शासनके उल्लंघन तो महान् भयसे उठे हुए वज्रके समान अखिल ब्रह्माण्डको कम्पित कर रहे हैं। 'महद्भयं वज्रमुद्यन्तम्' यहांपर पञ्चम्यर्थमें प्रथमा विभक्ति है॥ २८॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विरह उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवे-
द्वियत इवाऽपदस्य तव शून्यतुलां दधतः॥ २९॥

अन्वयार्थः।

स्थिरचरजातयः, अजया,	स्थावर जङ्गम जातियुक्त सभी प्राणी मायासे
उत्थानिमित्तयुजः स्युः,	उत्पन्न सुख दुःख भोगके निमित्त शरीर युक्त होते हैं
ततः यदि,(केषांचित्)विरहः	उन प्राणियोंमेंसे यदि किसीका मायासे मोक्ष होवे तो
परस्य उदीक्षय[1] हे विमुक्त!	परमात्मा आपके कृपाकटाक्षसे ही मोक्ष पाता है, क्योंकि हे विमुक्त!
परमस्य, तव कश्चित्-अपरः नहि	परमदयालु आपका कोई अपना नहीं है और
परः च न, भवेत् वियत इव,	पराया भी कोई नहीं है आपको सभी प्राणी बराबर, आप आकाशके समान
अपदस्य-शून्यतुलां दधतः	त्यागने योग्यगुणोंके स्थानरहित अविद्यमान उपमाको आप धारण करते हो।

यदि-विहरः (तदा) परस्य तव-	जब आपके विहार करनेकी इच्छा होती है तब परमोत्कृष्ट आपके
उदीक्षया-अजया-उत्थ-निमित्तयुजः	संकल्प मात्रसे मायासे उत्पन्न सुख दुःख भोगके निमित्त देह बुद्धि इन्द्रियोंसे युक्त
स्थिरचरजातयः-स्युः-हे विमुक्त-	सभी स्थावर जङ्गम प्राणी हो जाते हैं हे विमुक्त
ततःपरमस्य-परः-अपरः च	इसीपर परमश्रेष्ठ आपके पूर्व होनेवाला कोई नहीं है और दूसरा कार्यभूत भी कोई नहीं है
कश्चित् न भवेत्-वियत इव	जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है किन्तु व्याप्यगत दोष उसमें लिप्त नहीं होते ऐसा ही आपमें
अपदस्य शून्यतुलां दधतः	त्यागनीय गुणोंके स्थान रहित उपमा राहित्य-को धारण करते हो।

विशदार्थः।

इस उक्तरीत्या परमात्मा कल्याणगुणोंसे परिपूर्ण कहा गया है किन्तु जब कल्याण गुणोंसे पूर्ण है तब कोई त्याज्य गुण भी परमात्मामें होंगे, इस शंकामें कहते हैं कि, त्यागयोग्य कोई उसमें गुण नहीं है यह श्रुति कहती है, अस्तु नहीं छूटने योग्य मायाके सम्बन्धसे जीवोंके कैसे छुट्टी होगी इस प्रश्नमें कहते हैं कि त्याज्य गुणोंका नाशक श्रीपरमात्माके कृपाकटाक्षसे ही होगी इस बातको 'स्थिरचर' इस श्लोकसे कहते हैं। पादपोंसे लेकर मनुष्य पशु पक्षी आदि यावत् जगत्में प्राणी हैं वे मायासे उत्पन्न मायाके कार्य-भूत हैं, अतः दुःखोंके भोगनेके लिये नाना योनि सम्बन्धी शरीरोंको प्राप्त होते हैं, क्योंकि सभी शरीरधारियोंको अनादि मायाका सम्बन्ध लगा है, वह सहसा स्वतः कदापि छूटनेवाला नहीं है। अतः उक्तरीत्या मायाबद्ध नाना योनिगत चेतनोंसे, यदि किसीको मुक्ति हुई तो परमात्माके दया दृष्टिसे ही हुई, यदि कहो कि नहीं छूटने योग्य माया सम्बन्धसे किसीको छुटावे और किसीको संसारी दुःखभोगने देवै तो सम विषम निर्दय आदि त्यागनीय गुणोंसे भी मैं युक्त हो गया इस प्रश्नमें सम्बोधन करते हैं, हे विमुक्त ! त्यागनीय निंद्य गुणोंके नाशक इस उक्त सम्बोधनार्थको विशेष रूपसे कहते हैं,निःसीम दयालु आपका जैसा ही कोई परमकृपा-पात्र नहीं है वैसा ही कोई अदयाका भी पात्र नहीं है, सर्व प्राणी आपके शरीर हैं अतः कोई अरक्षणीय भी नहीं हैं, क्योंकि अपने ही शरीरमें किसी अङ्गकी रक्षा और किसी अङ्गका त्याग होही नहीं सकता, अतएव आप सर्वोके रक्षक हैं, अतः एकका स्वागत एकका तिरस्कार इस त्याज्य वैषम्यदोषकी आपमें गन्ध ही नहीं हो सकती, तथापि उपासना, भजन, आराधनादि व्याजका अवलम्ब लेकर मुक्त करते हैं अतएव उपासनादि रहितको नहीं मुक्त करते, केवल विषमता और निर्दयालुतादिका ईश्वरमें अभाव ही है किन्तु जितने त्याज्य गुण हैं वे

परमात्मामें एक भी नहीं हैं, इस अभिप्रायको लेकर "वियत" इत्यादि पदसे दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं, आकाशके समान स्थान रहित अर्थात् त्याज्य गुणोंके रहनेके योग्य स्थानसे रहित हैं, जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है तथापि जिन २ पदार्थोंमें व्याप्त है उन २ पदार्थोंके दोष- से आकाशमें नहीं लिपटते, वैसे ही आपके सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी त्याज्य व्याप्य पदार्थोंके गुण आपके पास नहीं आते, अतएव शून्यतुला चेतन अचेतनमें अविद्यमान उपमाको धारण करते हैं याने आप चेतनाचेतनमें व्याप्त ही नहीं है। अथवा शून्यतुलाको धारण करते हैं, जैसे बिना कोई वस्तु चढ़ाये तराजूकी डांडी दोनों ओर बराबर रहती है वैसा ही आप न किसीका मान न किसीका अपमान ही करते अतः सर्व प्राणियोंमें समभाव रहते हैं, तथा उपमारहित सर्वजगतमें व्याप्त आपको जगत्के दोष नहीं स्पर्श करते अतएव आपकी उपमा नहीं हो सकती।

'विहर उदक्षिया' इस पाठमें—

'विरह उदीक्षया' की जगहमें 'विहर उदीक्षया' ऐसा पाठभेद है इस पाठका अर्थ लिखते हैं यदि कहो कि जब मैं करचरणादि इन्द्रियोंसे हीन हूँ तब जो हमको जगत्का कर्त्ता कहते हो इसकी सिद्धि न होगी क्योंकि बिना करचरणादि इन्द्रियोंके कोई कार्य नहीं हो सकता, और जो स्वयं राजा है उसका भी जगत्का व्यापार करना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जो कर- चरणादि इन्द्रिययुक्त हैं और कर्मवश हैं उन्हींको कार्य निर्माणादि व्यवहार देखे जाते हैं, इस शंकामें 'स्थिरचर' इस श्लोकसे कहते हैं—जब आपके विहार अर्थात् क्रीड़ा करनेकी इच्छा होती है तब "एक[1] ही मैं बहुत (अनेक) रूप हूँगा" इस श्रुतिके अनुसार, संकल्पमात्रसे मायाके द्वारा कर्मवश उत्पन्न शरीरके निमित्त बुद्धिइन्द्रियादिकोंसे युक्त चराचर शरीरधारी यावत् प्राणी हैं वे होते हैं, 'उदीक्षया' इस पदसे बिना कर चरणादि इन्द्रियोंके कार्य नहीं हो सकते यह शंका दूर होगयी अर्थात् आपके संकल्पमात्रसे ही जगत् होता है 'विहर': इस पदसे कर्मवश आपका शरीर होता है यह शंका दूर होगयी, अर्थात् आप क्रीडार्थ अपनी इच्छासे शरीर धारण करते हैं, और संसार-उत्पत्तिरूप व्यापारका जीवोंके समान सुखदुःखका कारण अर्थात् जसे जीव अपने पूर्व किये हुए कर्मके आधीन सुखदुःखादिकोंका भोग करते हैं वैसा ही आप भी करते हैं यह सभी शंका 'विहरः' इसी शब्दसे दूर हो गयी, जीवोंके सुख दुःख भोगने और आपके न भोगनेमें कारण दिखाते हुए सम्बोधन करते हैं, हे विमुक्त हेयगुणोंके नाशक, जीव समस्त जगतके अन्तर्यामी नहीं हैं, न तो सर्व शक्तियोंके प्रेरक ही हैं, और सत्य संकल्पादि गुणोंसे हीन होनेके कारण त्याज्य गुणोंके पात्र होनेसे संकल्पके द्वारा मिट्टीका घटादि बनानेमें भी असमर्थ हैं, यदि कहो कि हमारी ही इच्छा क्या है इसको कहते हैं—सर्वोपरि वर्तमान आपके पूर्व कोई रास्ता नहीं है क्योंकि सम्पूर्णके परम कारण आप ही हो अतएव कोई दूसरा कार्य

---

१ एकोऽहं बहु स्याम्।

भूत भी नहीं है क्योंकि सर्व जगत् आपका कार्य है, अथवा आपसे अन्य कोई शरीर भी नहीं है क्योंकि समस्त जगत् परमात्मात्मक ही है, यदि कहो कि इस उक्त रीत्या कहनेसे सांसारिक कुल दोष मेरे ही माथे पडेंगे इस शंकामें दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं,-जैसे आकाश सर्वव्याप्त है तथापि व्याप्यके दोष आकाशको स्पर्श नहीं करते, ऐसा ही आपका सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी सांसारिक दोषोंके स्पर्शसे रहित है ॥ २९ ॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि
न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः ।

हे ध्रुव-तनुभृतः अपरिमिताः	हे ध्रुव निश्चल स्वरूप परिमाण रहित
ध्रुवाः-यदि-सर्वगताः-तर्हि	नित्य शरीरधारी जीव यदि विभुस्वरूप है तो विभुस्वरूप परमात्माके समान होनेसे
शास्यता-न-इति-नियमः	परमात्मासे जीवोंका शासन न बनेगा और जीवोंको इस लोक आना जाना यह नियम न बनेगा
इतरथा-न-यन्मयम्-अजनि	अन्यथा अणुमाननेसे नियम तो सिद्ध होगा कि जाना आना न बनेगा जिस ब्रह्ममय यह जगत् उत्पन्न हुआ है
तत्-अविमुच्य नियन्तृ भवेत्	वह ब्रह्म अन्तःस्थित होकर सर्व जगत्का नियन्ता है
सम्यक्-अजानतां-(समम-नुजानतां) यन्मतं-तत्	इस प्रकार तत्त्वज्ञानियोंके मतको जो नहीं जानते हैं उनका जो मत है वह
मतदुष्टतया-अमतम्	मत दूषित होनेके कारण अनादरणीय है ।

विशदार्थः ।

'स्थिरचर' इस पूर्व श्लोकसे छोटे बड़े यावत् स्थावर जङ्गम शरीर हैं, उनमें प्रवेश करनेके योग्य जीवोंकी स्वाभाविक सूक्ष्म स्वरूपता सूचित है, इस उक्त श्लोकके प्रतिकूल जीवोंको विभु माननेवालोंके मतको 'अपरिमिताः' इस श्लोकसे दूषित करते हैं । हे ध्रुव हे निश्चल-स्वरूप, संख्यारहित निश्चल स्वरूप नित्य शरीरधारी जीव यदि विभुस्वरूप होवै तो विभु स्वरूप

परमात्माके समान होनेसे जीवोंमें जो परमात्मासे शासन होना श्रुतियोंसे सुना जाता है वह न सङ्गत होगा और जीव जीवको ही जो परस्पर राजा प्रजा होकर एक एकको शासन करते हैं यह न सिद्ध होगा, क्योंकि जब सर्व जीव एक समान हैं तब कौन किसका शासन करेगा, तथा जो श्रुतिस्मृतियोंसे परमात्माका जीवोंके अन्तःकरणमें प्रवेश कर चेतन करना और बाहरसे राम कृष्णादि अवतारों तथा शास्त्रोंसे नियमन करना प्रतिपादित है सो न बनेगा, इस प्रकार नियम भी है, कि जीवोंको भौतिक शरीरसे निकलना स्वर्गादि लोकोंको जाना, पुनः कर्मभूमि(संसार)में आना यह जो नित्य ही सुना जाता है सो भी न सिद्ध होगा।[1]"यह आत्मा ब्रह्मके प्रकाशसे प्रकाशित है और नेत्र शिर मुखादि इन्द्रियोंके मार्गसे निकलता है, गति भी कही गयी है, जो[2] जीवात्मा यदि यज्ञादि द्वारा इस लोकसे जाते हैं वे सर्व चन्द्रलोकको जाते हैं, परलोकसे इस लोकमें आना भी कहा[3] है, देवलोकसे पुण्य क्षीण हो जानेपर पुनः इस मृत्यु-लोकमें कर्म करनेके लिये आते हैं, इत्यादि श्रुति जाना आना शासनादिको कहती हैं, अतः जीवको विभु न मानकर अत्यन्त सूक्ष्म माननेसे शास्य शासक आदि नियम सिद्ध हो जावेंगे, यद्यपि शरीर सम्बन्ध रूपसे शरीरमें स्थित होते दुष्ट आत्माकी यात्रा किसी प्रकार सिद्ध हो सकती है, अर्थात् शरीर आत्मा चल फिर सकता है, तथापि जो उक्त श्रुति कर्मवश चन्द्रादि लोकोंको जाना और सञ्चित पुण्य भोगके क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें कर्म—निमित्त आना यह कथन करती है वह कदापि सिद्ध न होगा, यह उक्त गमनागमन तो आत्मासे ही होगा न कि शरीरसे, इस अभिप्रायको लेकर नियम शब्द दिया है। "स्वात्मना चोत्तरयोः" उक्त लोकोंको जाना और आना आत्मामें ही सम्पादित है अतः जीवका अणुत्व सूचित है, यह ब्रह्मसूत्र भी कहता है। श्लोकमें 'इति' 'च' ये दोनों अवधारणार्थक हैं। तनुभृतः इस शब्दसे सर्वजीवोंका कोई भी एक शरीर पानेका निश्चय न होनेसे सर्व योनिगत शरीरोंके सम्बन्धसे होनेवाले पुण्य पापोंको सर्व साधारण जीवोंके ग्रहणकी योग्यता होनेसे ही शासन न बनेगा, अर्थात् कोई एक शरीरसे पाप पुण्य होंगे तो उक्त पाप पुण्यके फलके भागी सम्पूर्ण जीव हो जावेंगे क्योंकि सर्व जीव सर्व शरीरमें हैं अतः राजा प्रजा आदि शासन न बनेगा, इस प्रकार जीवके विभु माननेमें असिद्धि दिखलायी गयी है। 'अपरिमिताः' इस शब्दसे जीवोंकी अनन्तताका प्रतिपादन है, और ऐक्यवादका खण्डन है। और उन जीवोंमें जो संसार बन्धन और मोक्ष गुरु और शिष्य, विद्वान और मूर्खादिकोंकी सिद्धिमें जो दूषण देते थे वे सबके सब खण्डित हो गये। यदि कहो कि जीवोंका अणु होनेपर भी जीवोंपर परमात्माका शासन क्या भृत्योंपर राजाके समान है, इस प्रश्नमें परमात्माका शासन अन्तःकरणमें प्रवेश होकर है

---

१ तेन प्रद्योतेन एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।

२ ये वै केचन अस्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। ३ 'तस्माल्लोकात् पुनः एत्य अस्मै लोकाय कर्म्मणे।'

इस बातको 'अजनि च' पदसे कहते हैं—सर्वव्याप्त ब्रह्मसे उत्पन्न यह अखिल जगत् ब्रह्ममय है अतः वह ब्रह्म इसको न त्याग कर अन्तःकरणमें स्थित होकर नियन्ता होता है, इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपको न जाननेवालोंका मत दूषित होनेके कारण प्रामाणिक जनोंका अभिमत नहीं है 'सममनु जानताम्' ऐसे पाठभेदमें सम शब्द सर्वपर्याय है। इस पाठका अर्थ है कि ब्रह्म समग्र इस जगत्को उत्पन्न कर पुनः उसके अन्तःकरणमें प्रवेश किएकी तरह होकर प्रेरण करता है ऐसा जाननेवाले प्रामाणिकोंका मत जिनको अभीष्ट नहीं है उनका मत सदा त्यागनीय है क्योंकि वह मत प्रमाण न होनसे दूषित है 'जगदजनि' इस शब्दसे माया और जीवात्मक सृष्टिकी उत्पत्ति कही गयी है ॥ ३० ॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ॥
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः ।

अजयोः प्रकृतिपूरुषयोः	अज (आत्मा) होनेसे दोनो माया जीवोंकी स्वतः
उद्भवः-न घटते-जलबुद्बुदवत्	उत्पत्ति नहीं घट सकती तथापि वायुसे प्रेरित जलमें बुद्बुदके समान
उभययुजाः असुभृतः	वैसा ही आपके संकल्पसे माया जीवके परस्पर संयोगसे प्राणीजन
विविधनामगुणैः त्वयि	नाना देव मनुष्यादि नाम गुणोंसे युक्त आपमें
भवन्ति-ततः-त-इमे-परमे-लिल्युः	होते हैं पुनः प्रलयकालमें सूक्ष्म रूपसे आपमें लय होंगे
सरितः अर्णवे इव	जिस प्रकार नदियां समुद्रमें लीन होती हैं
अशेषरसाः-मधुनि-इव	और जिस प्रकार सम्पूर्ण रस मधुमें लीन होते हैं तद्वत् ।

विशदार्थः ।

यदि कहो कि माया और जीव दोनों अज (आत्मा) हैं अतः इनकी उत्पत्ति नहीं संगत होती इस बातको 'न घटते' इस श्लोकसे कहते हैं। यद्यपि माया जीव दोनों अज हैं, इनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तथापि विद्यमान (वर्तमान) जलके अवयवों (भागों) का पवन-

की प्रेरणासे परस्परमें संयोग होकर जैसे (वर्षाके बुन्दसे) बुद्बुदा उत्पन्न हो जाते है, वैसे ही जीवगण अनादिकालिक कर्मको निमित्त कर परमात्माके संकल्पसे माया जीवके परस्पर संयोगसे प्रलयकालीन माया जीव विशेषण विशिष्ट सर्वाधार आपके बीचमें देव मनुष्यादि नाना नाम रूप और आकार सम्पन्न प्राणी उत्पन्न होते है अर्थात् महदादि तत्त्वरूपसे परिणाम होना ही मायाकी उत्पत्ति है और देव मनुष्यादि नाम रूपकी प्राप्ति ही जीवकी उत्पत्ति है और जीव माया दोनों स्वतः स्वरूपसे नित्य है। इसके अनन्तर प्रलयकालमें देव मनुष्यादि स्थूल नाम रूपका परित्याग कर और महदादि स्थूल नाम रूपका परित्याग कर माया और जीव ये दोनों सूक्ष्म रूपसे आपके बीचमें लयको प्राप्त हो जाते हैं। जैसे सर्व नदियां समुद्रमें लय हो रही है। जैसे मधुमें अनेक पुष्प रस मिल रहे हैं ऐसे ही आपमें उक्त माया जीव नाम रूपसे रहित होकर लय होते हैं। पदार्थोंकी पूर्व अवस्था त्यागकर दूसरी अवस्थाके योग होनेसे पूर्व त्याग की हुई अवस्थाका विनाश कहते हैं और पूर्व अवस्थाको त्याग कर जिस अवस्थामें स्थित हो उसकी उत्पत्ति कहते हैं, अतः अवस्थाओंके अनित्य होनेपर भी, अवस्थामें स्थित द्रव्यके नित्य होनेसे उस द्रव्यके पूर्व अवस्थाको त्यागकर दूसरी कारणात्मक कार्यावस्थाके धारण करनेसे उत्पत्ति विनाशमें कोई विरोध नहीं पड़ता है। यहांपर समुद्रकी जगहमें जड़ चेतन विशिष्ट ब्रह्मको लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।
कथमनुवर्त्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः सृजति
मुहुस्त्रिनेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः।

अनुप्रभवम्-अमीषु-नृषु-तव,-	वारंवार जिससे संसार होता है ऐसा इन मनुष्योंमें आपकी
मायया,-भ्रमम्-अवगत्य,- सुधियः,	मायासे देहमें आत्मभ्रम आत्मामें स्वतन्त्रताका भ्रम ही संसार करता है यह निश्चय करके विवेकी जन
अभवे,-त्वयि,-भृशं,-भावं,- दधति,	जिसके स्मरणसे भय नहीं होती ऐसे आपमें अत्यन्त भक्तिको करते हैं
(त्वां) अनुवर्तताम्-भवभयं- कथं-यत्-	क्योंकि आपके भजन आराधन करनेवालोंको किसी प्रकार संसारभय नहीं होता।
अभवच्छरणेषु-तव-भ्रुकुटिः- त्रिनेमिः भयं सृजति	आपके शरण न होनेवाले प्राणियोंमें आपका भ्रुकुटि विलासरूप और शीत उष्ण वर्षा इन तीनों रथचक्रधाररूपी काल वारंवार भय करताहै

विशदार्थः ।

अस्तु उत्पत्ति विनाशात्मक संसारसे निवृत्ति और प्रवृत्तिमें क्या कारण है, इस प्रश्नमें कहते हैं, कि आपके श्रीचरणोंमें भक्ति होनेसे मुक्ति होती है और आपके चरणोंमें अनुराग न होनेसे पुनः २ संसार होता है इस विषयको 'नृपु तव' इस श्लोकसे कहते हैं । जिस अज्ञानके होनेसे वारंवार संसार पीछे पड़ा है अर्थात् जिस भ्रान्तिरूप अज्ञानसे पुनः पुनः संसार होता है वह उन जीवों-में आपकी मायासे देहहीमें आत्मभ्रम तथा आत्मामें स्वतन्त्रत्वका अभिमान (भ्रम) में दोनों प्रकारके भ्रम ही संसारके कारण हैं अर्थात् इन्ही दोनों भ्रमोंके होनेके पश्चात् संसार होता है, ऐसा निश्चय कर विवेकी महात्माजन आपके ही विषयमें अत्यन्त प्रेम भक्ति करते हैं क्योंकि आपके भजन करनेवालोंको किसी तरह संसारसे भय कभी हो नहीं सकता । कारण कि जो प्राणी आपके शरणमें न आकर आपका भजन नहीं किये हैं उन्हीके लिये ही आपका भ्रुकुटि-विलासरूप शीत उष्ण और वर्षा इन तीनों चक्रयुक्त संवत्सरात्मक काल ही वारंवार भयको उत्पन्न करता है । 'अभवच्चरणेषु' इस पाठका अर्थ है कि जो आपके चरणोंको उपाय और उपेय भावसे सेवन नहीं करते अर्थात् श्रीमन्नारायणके श्रीचरणारविन्दकी प्राप्तिका उपाय भगवच्चरणका आराधन ही है ऐसा जानकर जो उपासना नहीं करते उन्हींके लिये उक्त त्रिनेमि संसार करती है । और आपके शरणागत भक्त जनोंको भय नहीं करती कारण कि आपके भजन करनेसे संसारसे मुक्त हो जाते हैं सो तो मुक्ति पदमें कालका कुछ पराक्रम नहीं चलता । ॥ ३२ ॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरो-
श्चरणं वणिज इवाज सजन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः ।

हे अज,-अतिलोलम्-अतएव,	अति चंचल है इसीसे
विजितहृषीकवायुभिः, अपि	प्राणवायु और इन्द्रियोंके जीतनेवाले योगी जनोंसे भी ।
अदान्तमनस्तुरगं,-ये-यन्तुं	जिसका दमन नहीं हो सकता ऐसे मनरूप घोड़ेको जो पुरुष जीतनेको
गुरोश्चरणं,-समवहाय,-उपायखिदः,	गुरुके चरणोंके उपासनाको छोड़कर अन्य साधनोंमें क्लेश कर
यतन्ति,-ते-व्यसन-शतान्विताः,	यत्न करते हैं वे अनेकों दुःखोंसे व्याकुल होकर ।

इह सजन्ति; अकृत-कर्णधराः;	इस संसारमें ही डूबते हैं जैसे विना केवटके नौकामें चढ़कर पार जानेवाला
वणिजः, जलधौ, इव	व्यापारी (वणिक्) समुद्रमें डूब जाता है वैसे ही गुरुके चरणोंकी उपासना न करनेवाले संसारमें डूबते हैं।

विशदार्थः ।

यदि कहो कि हमारेमें भक्ति अनुराग किस रीतिसे हो सकता है ? इस प्रश्नमें कहते हैं कि मनके जीतनेसे तथा सांसारिक विषयोंके वैराग्यसे किन्तु मनका जीतना और वैराग्य होना भी केवल गुरुके सेवनसे ही हो सकता है। इस बातको 'विजितहृषीक' इस श्लोकसे कहते हैं अति चपल होनेसे इन्द्रिय प्राणोंके जीतनेवाले योगी जनोंसे भी अजेय मन तुरङ्ग जीतनेको जो प्राणी श्रीगुरुचरणोंको छोड़कर अन्य साधनोंमें क्लेश करते हुए नाना यत्न करते हैं वे सैकड़ों दुःखोंसे व्याकुल होकर इस संसारसागरमें ही डूबते हैं। जैसे विना केवटके नौकामें चढ़कर समुद्रका पार होनेका यत्न करनेवाला व्यापारी (वणिक) डूब जाता है वैसे ही उक्त प्राणी संसारसागरमें डूब जाते हैं अर्थात् संसारकी नाना योनियोंमें पड़कर पुनः पुनः जन्म मरणादि अनेको दुःखोंको भोगते हैं ।॥ ३३ ॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थः ।

सर्वरसे—आत्मनि—त्वयि—सति	सम्पूर्ण असीम आनन्दस्वरूप सर्वके अन्तरात्मा आपके विद्यमान रहनेपर
नृणां—श्रयतः—स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैः—किम्	मनुष्योंमेंसे आपका भजन करनेवाले पुरुषको अपने कुटुम्बी पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, पृथिवी, प्राण, रथ, आदि सांसारिक पदार्थोंसे कुछ भी सुख नहीं है
इति—सत—अजानताम् रतये	इस प्रकार निरवधिक परमानन्दस्वरूप आपको न जाननेसे स्त्रीसुखार्थ
मिथुनतश्चरताम् स्वविहते	स्त्रीपुरुषकी युगल जोड़ी होकर विहार करनेवाले संसारी जीवोंको अपने ठीक ठीक अनुभवके विनष्ट होनेसे आत्माको

स्वनिरस्तभगे; इह-को नु सुखयति । } स्वाभाविक ऐश्वर्यका निरास हो जानेपर इस संसारमें कौन पदार्थ } सुख देगा जीवको अपने ज्ञानरूप ऐश्वर्यके नष्ट होनेपर कोई नहीं सुख देता है ।

विशदार्थः ।

यदि कहें कि हमारे विषयमें जो अति भक्ति प्रेम करते हैं वे करें किन्तु उस भक्ति अनुराग-का फल क्या है ? इस प्रश्नमें कहते हैं जो आपके विषयमें अत्यनुरागपूर्वक भक्ति करते हैं वे निःसीम आनन्दके समुद्रमें गोता लगाते हैं और संसारी विषयसुखको तुच्छ समझ कर घृणा-पूर्वक त्याग देते हैं, और जो आपमें भक्ति नहीं करते वे संसारी सुखका विष मिले हुए दुग्धके समान भोग करते हैं । इस बातको 'स्वजन सुत' इस श्लोकसे कहते हैं। सर्व प्रकारके असीम रस (आनन्द)स्वरूप अखिल ब्रह्माण्डके आतमा आपमें "परमात्मा रस (सुख) स्वरूप है उस सुखस्वरूप परमात्माको पाकर यह जीव सुखी होता है । यदि वह आनन्दस्वरूप परमात्मा हृदय-आकाशमें स्थित न होता तो इस जगत्के प्राण अपानादि चेष्टाओंको कौन कराता" इस श्रुतिके अनुसार निरवधिक आनन्दस्वरूप अत्यन्त प्रिय आपके विद्यमान रहनेपर मनुष्य-वर्गोंमेंसे जो कोई आपका भजन करनेवाले है उनको अपने कुटुम्बी, पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, भूमि, प्राण, रथ, वाहन इत्यादिक सांसारिक पदार्थोंसे क्या सुख है ? कुछ भी सुख नहीं होता । क्योंकि इस प्रकार उक्त निरवधि परमानन्दस्वरूप आपको न जानकर इस लोकमें विषयादि इन्द्रिय सुखोंके लिये स्त्रियोंके साथ विहार करनेवाले पुरुषों-का, अपने अनादि काल तथा असंख्य जन्म कर्मोंसे उपार्जित प्रकृति सम्बन्धसे निज यथा-वत् अनुभवके आच्छादित हो जानेसे (विघात होनेसे) और आत्माके स्वाभाविक स्वरूप ज्ञान ऐश्वर्यके नष्ट हो जानेपर भी इस संसारके पदार्थोंमेंसे कोई पदार्थ उनको सुख देनेवाले नहीं हैं । अर्थात् जिनको उक्त स्वजनादिकोंके ममत्वरूप मायासे आत्मस्वरूपज्ञान तथा भग-वत्सम्बन्धी ज्ञान नष्ट हो गया उनको अर्थ धर्म कामोंमेंसे कोई भी सुख नहीं दे सकते "स्ववि-हत स्वनिरस्तभगे" इस पाठ भेदका अर्थ है कि, अपने ठीक २ स्वरूपके अनुभवके विघात होनेसे ही स्वाभाविक ज्ञान ऐश्वर्यके नष्ट होनेपर भी संसारके कोई पदार्थ सुख नहीं दे सकते । और जिनको परमात्मज्ञान हो गया है उनको विषयसुख तुच्छ है ॥ ३४ ॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदास्त
उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।

---

१ रसो वै सः रसमेवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।

दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थः ।

ये नित्यसुखे-आत्मनि-त्वयि,	जिन्होंने नित्यसुखस्वरूप आत्मा आपमें
सकृदपि-मनः, दधति, ते-पुनः	एक बार भी मनकी धारणा की है वे विवेकी जन पुनः
पुरुषसारहरावसथान्,- न,-उपासते.	पुरुषोंके ज्ञान वैराग्यादि सार (धन) को नाश करनेवाले गृहका सेवन नहीं करते
भुवि,-पुरुपुण्यतीर्थसदनानि, उपासते	पृथिवीमें अतिपवित्र गङ्गादितीर्थ अयोध्या मथुरादिक्षेत्रोंका सेवन करते हैं
ऋषयः,-विमदाः, उत,-भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः	महात्माजन जीव और परमात्मतत्त्वका साक्षात् करनेवाले देहमें आत्माका तथा आत्मामें स्वतन्त्रताके अभिमान मदशून्य आपके चरणोंको हृदयमें धारण करते हैं अतएव उनके चरणोंका जल संसारी पापको दूर करता है ।

विशदार्थः ।

यदि कहो कि सर्वात्मा सर्वरसस्वरूप (निरवधिक आनन्दस्वरूप) हमारी जो भजन उपासना करते हैं वे क्या पुनः संसारी विषय स्त्री पुत्र धनादि सुखोंको अनुभव नहीं करते ? इस प्रश्नमें भुवि 'पुरुपुण्य' इस श्लोकसे कहते हैं। जो महात्मा सर्वान्तरात्मा होनेसे ही नित्य सुखस्वरूप आपके चरणारविन्दोंमें एक बार भी मनकी धारणा करते हैं वे विवेकी जन पुनः पुरुषोंके ज्ञान वैराग्यादि सार (धन) को नाश करनेवाले गृहोंको सेवन नहीं करते, किन्तु पृथिवीमें अत्यन्त पवित्र गंगादि तीर्थ तथा अयोध्या मथुरा पुरुषोत्तमादि क्षेत्रोंका सेवन करते हैं तथा उक्त तीर्थोंको पवित्र होनेपर भी अत्यन्त पवित्र करते हैं, यदि कहो कि उक्त महात्माओंका तीर्थमें वास कर तीर्थहीको पावन करनेमें क्या कारण है इस शंकामें कहते हैं कि वे ऋषि महात्मा जन जीवात्मा और परमात्माके तत्त्वको ठीक २ साक्षात् कर लिये हैं कि यह परमात्मतत्त्व है यह जीवात्मतत्त्व है ऐसा ज्ञान होनेसे ही, देह ही आत्मा है इस अभिमान और आत्मा स्वतन्त्र है इस अभिमानसे रहित हो गये हैं और आपके चरणकमलोंको निरन्तर निज हृदयमें धारण तथा अपने मनको आपके चरणकमलोंमें धारण करते हैं, अतएव उनके चरणकमलोंका जल संसारी जीवोंके सर्व पापोंका नाश करता है। इसी कारणसे तीर्थोंका भी पवित्रकारक कहा गया है इस वाक्यसे भगवद्भक्तोंके चरणका स्पर्श तीर्थसे ज्यादे पवित्रकर है यह बात सूचित हुई। इस श्लोकके 'आत्मनि' इस पदसे ज्ञात होता है कि माया जीवा-

त्मक कार्य भूत इस जगत्का ब्रह्म शरीरकत्व है अर्थात् जड़ चेतनात्म कार्य भूत यह जगत् प्रपञ्च ब्रह्मका शरीर है और ब्रह्म इस समस्त चेतनाचेतन जगत्का अन्तरात्मा है इसीसे ब्रह्म परमार्थ भूत (सत्य भूत) कहा गया है अतः परमात्माका शरीर होनेसे मिथ्या भूत कुछ भी किसीका भी शरीर तथा पदार्थ नहीं देखा जाता किन्तु सत्य भूत ही है ॥ ३९ ॥

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरंपरया
भ्रमयति भारती न उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थः ।

सतः-उत्थितम्	सत्यस्वरूप ब्रह्मसे उत्पन्न कार्यभूत
इदं-सदिति-चेत्	यह जगत्-सत्य है यदि ऐसा कहो
ननु	सो ठीक नहीं
तर्कहतं	(क्योंकि) युक्तिसे (घट दीपादिमें) खण्डन हो जाता है (यह पूर्व पक्ष है अग्रे उत्तरपक्ष है)
क्व च-व्यभिचरति	कहां खण्डन होता है
न-क्व च-	घट दीपादिमें भी तो कार्यकारण एक ही है अतः कहीं भी व्यभिचारी होकर खण्डित नहीं होता
न-तथा-उभययुक्	कार्य-कारण दोमेंसे एक भी व्यभिचारी नहीं है क्योंकि कार्य कारणात्मक होता है
व्यवहृतये-विकल्पः	व्यवहारा (कर्मनिर्वाहा) र्थ देव मनुष्य घट दीपादि नामोंके पृथक् पृथक् भेद
इषितः-ते-भारती	माने जाते हैं । आपकी बुद्धि
उरुवृत्तिभिः	नानाप्रकारके कुतर्कोंसे
अन्धपरम्परया	तथा पूर्वके शिष्य प्रशिष्यके अविचार परंपरा (प्रणाली) से
उक्थजडान्	वेदके कर्मकाण्डमें कटिबद्ध जनोंको
भ्रमयति	भ्रमित कर रही है

विशदार्थः।

इस तरह कार्यकी सत्यताको सिद्ध कर तदनन्तर जो कार्यकी सत्ताको खण्डन कर कार्यको मिथ्या कहते हैं उस मिथ्यावादको प्रश्नद्वारा कहकर "सत इदमुत्थितम्" इस श्लोकसे खण्डन करते हैं। 'सतः' यहांसे लेकर 'तर्कहतम्' तक कार्यके मिथ्यावादियोंके मतका कथन है। 'व्यभिचरति' यहांसे लेकर श्लोकान्त तक ऐसे कार्यके मिथ्यावादियोंके मतका खण्डन है। ऐसा कार्यके मिथ्यावादियोंके मतका तथा सत्कार्य वादियोंके मतका श्लोकमें विभाग है। सत्य परमार्थभूत अविनाशी ब्रह्मसे उत्पन्न यह दृश्यमान जगत् सत्य है, यदि ऐसा कहो सो ठीक नहीं, कारण कि वह युक्तिसे सिद्ध नहीं होता अर्थात् तर्कसे हत हो जाता है। यद्यपि जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है वह उसका रूप ही होता है, जैसे मिट्टीसे उत्पन्न घट मिट्टीही है और सुवर्णसे उत्पन्न चूडी अथवा कुण्डल सुवर्ण ही है, तो भी चेतन पुरुषके शरीरसे उत्पन्न केश, दन्त, नख, रोम ये सब अचेतन देखे जाते हैं। और अचेतन गोमयसे वृश्चिक आदि चेतनोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः कार्य और कारणके एक लक्षण नहीं सिद्ध होता, क्योंकि चेतनसे अचेतन और अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति देखी जाती है, अतः कार्य कारण भेद होनेसे कार्य मिथ्या है। और भी सत्यभूत स्वप्नमें मिथ्याभूत हाथी घोडोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। तथा सत्यरूप शुक्तिके टुकडेसे मिथ्याभूत चांदीकी उत्पत्ति होती है। इत्यादि कार्य और कारणकी विपरीतता प्रत्यक्ष दीख रही है, अर्थात् कारणरूप कार्य नहीं होता अतः कार्य मिथ्या है। यदि कहो कि कार्य सत् है सो ठीक नहीं क्योकि कार्यका सत् होना तर्कसे संगत नहीं होता अतः कार्य मिथ्या ही निश्चय किया गया है। तर्क शब्दका अर्थ यहां पर युक्ति लिया गया है। यदि कहो कि यहां कौन सी युक्ति है सो कहते हैं:——मिट्टीके यावत् घट दीप आदि कार्य हैं उनमें केवल मिट्टीही अनुवर्त्तमान सत्य रूपसे रहती है किन्तु मिट्टीके कार्य घट दीप आदि उत्पन्न हो होकर नष्ट होते हैं। अतः कार्य मिथ्या है जैसे कि अन्धेरेमें पडी हुई रस्सीको देखकर 'यह सर्प है' ऐसी मिथ्या भ्रान्ति हुई, किन्तु वह आधारभूत रस्सी सर्परूपी भ्रान्तिकालमें तथा 'सर्प नहीं है यह तो रस्सी है' इस निश्चय कालमें सत्यरूपसे वर्तमान रहती है और सर्प नष्ट हो जाता है अर्थात् रात्रिकालमें पडी हुई रस्सीको देखनेसे पूर्व सर्पका ज्ञान हुआ, ततः पृथिवीके रेखा (दरां) का ज्ञान हुआ, पुनः बारीक जलके धाराका ज्ञान हुआ अनन्तर रस्सीका ज्ञान हुआ, अतः एकके ज्ञान होनेसे एक दूसरेकी निवृत्ति होती गयी, अतः सर्पादिकोंमें अनुवर्त्तमान केवल रस्सी ही सत्य है और रस्सीसे उत्पन्न सर्पादिकार्य सब मिथ्या है। इसी तरह घड़ा दीप आदिकोंके हर एक अवस्थामें रहनेसे और सबोंका आधार होनेसे केवल मिट्टी ही सत्य है और घट दीप आदि यावत्कार्य हे वे सभी मिथ्या हैं। वैसा ही विशेषण रहित सत्तामात्र सर्व जगत्का आधारभूत ब्रह्मसे दूसरा मन बुद्धि अहंकारादि व्यवहारोंका अवलम्बन लेनेवाला समस्त जगत् प्रपञ्च मिथ्या है। और सर्व[1] जगत्का कारण सत्तामात्र केवल

१ "कारणभूतं सन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यम्"

ब्रह्म ही सत्य है किन्तु एक बात जरूर है कि सत्य स्वरूप आत्माका कभी विनाश हो नहीं सकता और असत् पदार्थ अर्थात् जो चीज नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। जैसे आकाशका पुष्प और खरगोशकी सींग । अतएव कार्य न तो सत्य है न असत्य है, अर्थात् दोनोंसे अकथनीय है । जिसको कह नहीं सकते कि इस तरहका है ऐसा निश्चित होता है । कार्य यद्यपि शुक्तिमें चांदीके समान मिथ्या ही है तथापि एक समय चांदीकी प्रतीति पुनः चांदीका बाध करके शुक्तिका ज्ञान होता है अतएव अनिर्वचनीय है । जैसे प्रथम शुक्तिके टुकडेको देखनेसे मालूम हुआ कि चांदी पडी है पश्चात् उठाकर देखनेसे ज्ञान हुआ कि यह तो शुक्ति है, अतः शुक्तिमें जब चांदीका ज्ञान हुआ तब तो चांदी ही सत्य थी पश्चात् शुक्तिके ज्ञान होनेसे चांदीका ज्ञान बाधित होता है अतः कार्य न तो मिथ्या है न सत्य ही है किन्तु सत्य असत्यसे अकथनीय है ऐसा ही यह जगत्प्रपञ्च प्रत्यक्ष ही शुक्तिमें चांदीके समान मिथ्या दीख रहा है । श्रुति भी है:-"यह जगत् ब्रह्मात्मक है[1], वही ब्रह्म सत्य है, इस जगत्में जो देव मनुष्यादि नाना रूप देखे जाते है वे मिथ्या है[2], केवल ब्रह्म सत्य है, जो इस जगत्में देव मनुष्यादिकोंको नाना रूपोंको सत्य बुद्धिसे देखता है वह बारंबार जन्म-मरणको प्राप्त होता है[3], जहां पर दो होते हैं वहां एक दूसरेको देखता है[4], जबकी सर्व जगत्का आत्मा ब्रह्म ही है तब कौन किसको देखता है, ब्रह्म ही मायाके द्वारा अनेक रूप होता है[5], ॥" इन उक्त श्रुतियोंसे कार्य्यकी सत्यता खण्डन की गयी है । इस प्रकार कहे हुए कार्य्यके मिथ्या वादियोंके पक्षका 'व्यभिचरति' इस पदसे लेकर श्लोक समाप्ति तकसे खण्डन करते हैं । और 'कार्य सत् है' इस अर्थको दिखाते हैं । कार्य-कारण कहां कहां पर दूसरे दूसरे होकर व्यभिचारको प्राप्त होते हैं, हमारे विचारसे तो कार्य और कारण दोनों एक ही पदार्थ हैं और व्यभिचारी भी कहीं नहीं होते । जो आप केश, नख और दांत आदिको कार्य कारणके व्यभिचारमें दृष्टान्त देते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि केश, नख और दांत आदि तो अचेतन शरीरसे उत्पन्न हुए हैं, अतः अचेतन हैं । और अचेतन गोमयसे अचेतन विच्छूका शरीर उत्पन्न होता है, अतः कार्य-कारणमें कहीं भी व्यभिचार (भेद) नहीं है अच्छा यह तो मैंने स्वीकार किया किन्तु स्वप्नमें हस्ती घोडोंको देखना पुनः जागनेपर मिथ्या हो जाना तथा शुक्तिमें चांदीका ज्ञान होना, पुनः देखनेसे मिथ्या हो जाना यह व्यभिचार तो आप वारण नहीं कर सकते । इस शंकामें "क्व च मृषा" इस पदसे उत्तर करते हैं कहां कार्य मिथ्या है, हमको तो स्वप्नके हस्ती, घोड़ा आदिक भी मिथ्या नहीं देख पड़ते । स्वप्नमें भी देखे हुए हस्ती घोड़े सब सत्य ही हैं, क्योंकि ईश्वरसे रचित हैं । जैसा ही

---

१ 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' २ 'नेह नानास्ति किंचन'। ३ 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' । ४ 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरः इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्यते' ।५ 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।'

जाग्रत अवस्था ईश्वरकी बनायी है; उसमें जो पदार्थ दीखता है वह सत्य माना जाता है वैसा ही स्वप्न अवस्था भी ईश्वरकी बनायी है, उसमें भी जो पदार्थ देखा जाता है वह सत्य ही है, मृषा नहीं है । [अन्यथा पञ्चीकरण प्रक्रियासे सर्व पदार्थ सर्व पदार्थोंमें होनेसे शुक्तिमें चांदी सिद्ध ही है] अथवा अन्यथाख्याति (अन्य पदार्थमें एक दूसरे पदार्थकी भ्रान्तिको अन्यथाख्याति कहते हैं) सो शुक्तिमें चांदीकी भ्रान्ति होजानेसे भी कार्य मिथ्या नहीं है। पुनः जो आप कहते हैं कि शुक्तिमें चांदीका ज्ञान मिथ्या है सो ठीक नहीं क्योंकि जबतक चांदी पदार्थ शुक्तिसे बाहर भी कहीं रहैगा तबतक मिथ्या नहीं कहा जा सकता, किन्तु भ्रान्ति ही कही जायगी, क्योंकि शुक्तिमें न होनेपर भी अन्यत्र देखी हुई चांदीकी शुक्तिमें भ्रान्ति हुई है । अब सत् (कारण) के उत्पत्तिके दोषको (उभययुक्) इस पदसे परिहार करते हैं । कार्य और कारणमेंसे एक भी व्यभिचारी नहीं होते, क्योंकि मिट्टी और सुवर्ण ये दोनों कार्य कारण दोनों अवस्थामें एक ही देखे जाते हैं अतः कार्यकारण दोमेंसे एक भी मिथ्या नहीं है, अतएव मिट्टी तथा सुवर्ण ये दोनों कार्य कारण-अवस्थावान् (युक्त) है अर्थात् कार्य रूप घट-अवस्थामें भी मिट्टी है और कारण-अवस्थामें भी मिट्टी ही है । ऐसा ही कार्य रूप कुण्डल-अवस्थामें सुवर्ण है तथा कुण्डलके टूट जानेपर भी सुवर्ण ही है । अतः सत्पदार्थ जो कारण, उसका अवस्थान्तर (कार्य) रूपको प्राप्त होना ही कार्य कहा जाता है सो तो सिद्ध ही है । और जो मिट्टी ही की अवस्था मिट्टी नाम छोड़ कर घट दीप आदि नामसे कही जाती है सो उस अवस्थाका घट आदि नाम भेद भी व्यवहारार्थ मानना ही पड़ेगा, क्योंकि घटसे जल ले आओ इत्यादिक वचन पूर्वक व्यवहार सभीको इष्ट है, अर्थात् देव, मनुष्य, देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि नाम न रखे जाते तो यदि कोई किसीको किसी कार्यार्थ पुकारना चाहता तो किस तरह पुकारता क्योंकि विना नामके कदापि किसीका आह्वान हो नहीं सकता अतः उक्त व्यवहारोंके सिद्धयर्थ पृथक् पृथक् नाम किये गये हैं । इसी तरह समस्त जगत् ब्रह्म कारण है किन्तु जिस तरह पृथिवी आदि स्वरूपसे विकारी होते हैं ऐसा ब्रह्म नहीं होता, किन्तु जीवके द्वारा विकारी होता है न कि स्वरूपसे । अथवा यदि कहो कि कार्य असत् होता तो दीख न पड़ता और सत् होता तो बाधित (नाश) न होता किन्तु शुक्तिमें चांदीके समान व्यवहाररूप कार्यकी प्रतीति और बाध दोनों देखे जाते हैं अतः कार्य सत् तथा असत् दोनोंसे अकथनीय मिथ्या है । इस शंकाको 'न तथोभययुक्' इस पदसे खण्डन करते हैं कि सत् और असत्की अकथनीयतासे युक्त तथा सत् और असत्के विलक्षणतासे युक्त ऐसा पदार्थ लोकमें कोई देखनेमें नहीं आता, अतः कार्यको सत् और असत्से अकथनीयतायुक्त तथा सत् असत्से विलक्षणतायुक्त भी नहीं कह सकते । यदि कहो कि शुक्ति आदिक द्रव्योंमें चांदी आदिक द्रव्योंकी प्रतीति होती है किन्तु जिस कालमें प्रतीति होती है उस कालमें भी चांदी शुक्तिमें नहीं है, ऐसा बाध होनेसे दूसरे पदार्थमें एक दूसरेकी

भ्रान्ति नहीं हो सकती किन्तु सत् असत्से अनिर्वचनीय एक अपूर्व ही यह चांदीकी उत्पत्ति हुई ऐसी नेत्रोंके दोषसे प्रतीति होती है ऐसी कल्पना करेंगे। सो भी ठीक नहीं क्योंकि यदि कल्पना करोगे तो वह कल्पना भी एक दूसरेके बिना नहीं हो सकती, अतः कल्पना करनेपर भी एक पदार्थमें एक दूसरेकी भ्रान्ति होना यह आप कभी छुटा नहीं सकते इससे शुक्तिमें चांदीकी भ्रान्ति स्वतःसिद्ध है और वह भ्रान्ति हमको अभीष्ट है। और शुक्तिमें चांदीकी भ्रान्तिके सर्वथा मिथ्या स्वीकार करनेसे भी दूसरेमें दूसरे पदार्थका निश्चय होना पुनः निश्चय होनेके पश्चात् उस निश्चयका बाध होनेसे भी भ्रान्तिकी सिद्धि पुनः हो जावेगी। क्योंकि जो वस्तु न तो देखनेमें ही आयी न तो सुनी ही गयी तो उस वस्तुकी विना कारणके उत्पत्तिकी कल्पना हो ही नहीं सकती। यदि कहो कि कल्पना की गयी चांदी अनिर्वचनीय है सो ठीक नहीं क्योंकि जिस कालमें शुक्तिमें चांदीकी प्रतीति हुई उस कालमें अकथनीय चांदीकी प्रतीति नहीं हुई, किन्तु सत्य ही चांदी प्रतीति हुई, अथवा सत्य ही चांदी अनिर्वचनीय रूपसे शुक्तिमें प्रतीति होती है। ऐसा कहै तो भी प्रवृत्ति तथा बाध न बनैगा क्योंकि जब शुद्ध चांदी है तब तो उसमें चांदी ही प्रतीति होनी पुनः गौरसे देखने पर यह चांदी नहीं है ऐसी बाधा कदापि न होगी। अतः दूसरे पदार्थमें दूसरे पदार्थका भान होनेसे पूर्व प्रतीति हो पुनः बाध हो यह सिद्ध न होगा । और इसका परिहार न होनेसे शुक्ति हीं को चांदीके रूपसे भासित होना आपको स्वीकार करना होगा । किन्तु अनिर्वचनीय एक अपूर्व चांदी शुक्तिमें उत्पन्न होती है । यदि ऐसा आप मानेंगे तो पूर्व उस चांदीके उत्पत्तिका कारण क्या है ? यदि शुक्तिमें चांदीकी उत्पत्तिका केवल प्रतीति हीको कारण कहो सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतीति प्रत्येक पदार्थसे उत्पन्न होती है अतः बिना किसी पदार्थके पूर्व प्रतीतिको ही आत्मसत्ता नहीं है तब दूसरेको किस तरह उत्पन्न कर सकेगी अथवा वह प्रतीति बिना कारणरूप पदार्थके उत्पन्न होती है और अनिर्वचनीय पदार्थको उत्पन्न कर पश्चात् उसीको अपनी उत्पत्तिका पदार्थ बनाती है यदि ऐसा कहे तो आपकी युक्तिका विचार लोकोत्तर है। यदि दूषित इन्द्रियोंको अनिर्वचनीय चांदीकी उत्पत्तिका कारण हो सो ठीक नहीं क्योंकि इन्द्रियगत दोष जीवके आश्रित हैं और अनिर्वचनीय चांदीकी प्रतीति शुक्तिमें आश्रित है अतः कार्य और कारणमें दोष हो जावेगा, कि कारण अन्यत्र कार्य कहीं अन्यत्र उत्पन्न होगा, अर्थात् नियम तो यही है कि जिसका जो कारण है वह कार्य उसीसे होता है न कि पटसे घटकी उत्पत्ति है। इन्द्रिय भी आपके अनिर्वचनीय चांदीका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रियाँ नील पीत शीत गर्म आदिकोंके यथार्थ ज्ञानके उत्पन्न करने वाली हैं। किन्तु अनिर्वचनीयको नहीं उत्पन्न करतीं। कामलादि रोगोंसे ग्रस्त (दूषित) नेत्र आदि इन्द्रियां भी आपकी अनिर्वचनीय चांदीकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकती। क्योंकि वे उक्त रोगग्रस्त इंद्रियां अपने यथार्थ ज्ञानमें ही रूपान्तरको पैदा करती हैं जैसे कि कामला

रोगीको शंख पीला देख पड़ता है किन्तु अनिर्वचनीय नहीं दीखता । यदि आप अनिर्वचनीय मिथ्या ज्ञानका अनादि कारण मानिये तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि इस अनादिका भी कोई कारण होगा, पुनः उसका भी कोई कारण होगा ऐसा कहनेसे आपकी कहीं स्थिति न होगी, अतएव इस अनवस्था दोषसे ही खंडन हो जावैगा । किन्तु आपकी यह एक बात बड़ी ही अनोखी है कि जो अपूर्व अकथनीय पदार्थको चांदीके ना- और बुद्धिसे ज्ञान होना कहते हैं, और घट वस्त्र आदि नाम बुद्धिसे ज्ञान होना नहीं कहते, अर्थात् जब कि अपूर्व अकथनीय पदार्थ उत्पन्न हुआ तब केवल चांदी ही बुद्धि क्यों हुई घट वस्त्र ज्ञान ही क्यों न हुआ ? वस्त्र ही ज्ञान होना चाहिये । यदि कहो कि चांदीके समान है इससे चांदीका ज्ञान होता है सो ठीक नहीं, क्योंकि जब चांदीके समान है तब तो अनिर्वचनीय है ऐसा नहीं कहना था किन्तु चांदीके सदृश है ऐसा कहना चाहिये । यदि कहो कि चांदी जातिके योग है इससे चांदीका ज्ञान होता है तो प्रथम यह कहे कि यह चांदी जातीय योगज्ञान सत्य है कि असत्य ? यदि सत्य कहो तो असत्यके साथ उसका सम्बन्ध ही नहीं होता, असत्य कहो तो सत्यके साथ सम्बन्ध न होगा क्योंकि असत् पदार्थोंसे सत् पदार्थ बुद्धि शब्दोंके सम्बन्धके निर्वाहकी सङ्गति ही नहीं होगी । जैसे खपुष्प कहनेसे कमलका ज्ञान नहीं होता वैसा ही कमलके कहनेसे आकाश पुष्पका ज्ञान नहीं होता अर्थात् जो पदार्थ नहीं है, उसका भ्रम भी दूसरेमें नहीं होता, ऐसा ही शुक्तिमें अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्ति न होगी, किन्तु भ्रान्ति होगी और जो आप कहें कि रस्सीमें सर्पादि कार्यके समान सर्व घट दीपादि कार्योंका कारण केवल मिट्टी ही घट दीपादि कार्योंमें अनुवर्तमान होनेसे सत्य है, जैसे रात्रिकालमें पड़ी हुई कारणरूप रस्सी कार्यरूप प्रथम सर्पका ज्ञान हुआ, ततः सर्पज्ञानकी निवृत्ति होकर पृथिवीकी रेखा (दर्रा) का ज्ञान हुआ पुनः रेखाज्ञानकी निवृत्ति होकर पाताल जलकी धारका ज्ञान हुआ। पुनः जलधार ज्ञानकी निवृत्ति होनेपर रस्सीका ज्ञान हुआ किन्तु वह रस्सी सर्प भूरेखा, जलधारादि प्रत्येक अवस्थामें अनुवर्तमान रहती है अतः रस्सी ही सत्य है और सर्पादि सर्व व्यावर्तमान होनेसे मिथ्या है । ऐसा ही कारणरूप मिट्टीके पिण्डसे कार्यरूप घट उत्पन्न हुआ पुनः घटके नष्ट हो जानेपर उसी मिट्टीसे दीप उत्पन्न हुआ पुनः दीपके नष्ट हो जानेपर कालान्तरमें उसीसे ईंटा उत्पन्न हुआ अतः मिट्टी हरएक कार्यभूत अवस्थामें अनुवर्तमान रहनेसे सत्य है और घट दीपादिकार्य व्यावर्तमान होनेसे मिथ्या है । ऐसा ही सत्तामात्र ब्रह्म समस्त स्थावरजंगमात्मक जगत्में अनुवर्त्तमान होनेसे सत्य है और मन, बुद्धि अहंकारादिकोंका अवलम्बन लेनेवाले संपूर्ण पदार्थ व्यावर्त्तमान होनेसे तथा बाधित होनेसे मिथ्या है ऐसा आपका कथन सयुक्तिक नहीं है । एक पदार्थमें दो पदार्थोंका ज्ञान होनेसे परस्परमें एक एक दूसरेका विरोधी होकर एक बाध्य और एक बाधक होता है, अतः जो बाध्य होता है उसकी निवृत्ति होती है, जैसे एक ही रस्सीमें दो पदार्थका ज्ञान होता है । प्रथम रात्रिकालमें पड़ी हुई रस्सीको देखनेसे ज्ञान हुआ कि सर्प है पुनःरस्सीका

ज्ञान होनेसे सर्पज्ञान बाधित होकर निवृत्त हो गया। किन्तु घट दीप आदिमें तो देश (पदार्थ) कालके विभेदसे कोई विरोध भी नहीं है, अर्थात् मिट्टी पदार्थमें जिस कालमें यह घट है ऐसा ज्ञान होता है, पुनः उसी कालमें उसी घटमें यह ज्ञान नहीं होता कि यह घट नहीं है, किन्तु यही ज्ञान होता है कि यह घट है। और आप तो मिथ्या इसको कहते हैं कि जिस पदार्थमें जिस कालमें जिस पदार्थकी प्रतीति हो पुनः उसी पदार्थमें उसी कालमें उसी पदार्थका अभाव हो। जैसे शुक्ति पदार्थमें रात्रि समयमें किसीको यह ज्ञान हुआ कि यह चांदी है पुनः उसी शुक्ति-पदार्थमें उसी रात्रि समयमें उसीको यह ज्ञान हुआ कि यह चांदी नहीं है, किन्तु शुक्ति है। अतः इस शुक्ति और चांदीके विरोधमें शुक्ति बलवान् होनेसे चांदीका बाधक होकर निवृत्ति कर दी। किन्तु घटमें किसी कालमें अन्य बुद्धि नहीं होती घटका ही ज्ञान सर्व कालमें रहता है। अथवा कहीं अन्यत्र अन्य कालमें देखे अनुभव किये हुए चांदी और सर्पको शुक्ति और रज्जूमें तदाकार देखनेपर प्रतीति होनेसे कोई दोष नहीं है। दूसरे पदार्थमें दूसरे कालके सम्बन्धसे अनुभव हुआ पदार्थ अन्य अन्य पदार्थका अन्य अन्य कालमें अभाव प्रतीतिमें कोई दोष नहीं होगा, जैसे घटका ज्ञान कहीं अन्यत्र और पटका ज्ञान अन्यत्र होता है पुनः अन्य देशमें स्थित घटके देखनेसे अन्य देशमें स्थित वस्त्रकी अभाव प्रतीति किस तरह होगी? क्योंकि घटके देखनेसे वस्त्रका ज्ञान तो कभी होता नहीं। न तो वस्त्रके देखनेसे घटका ही ज्ञान होता, क्योंकि घट-वस्त्र दोनोंकी पृथक् पृथक् प्रतीति सर्वदा सर्वकालमें घटकी घटरूपसे और पटकी पटरूपसे निरन्तर रहेगी। किन्तु जब कि घटमें घटकी प्रतीति सर्वदा सर्व कालमें निरन्तर रहती है तब इस घटमें आप बाध्यबाधकभाव होना कैसे कहते हैं? और रस्सी सर्पमें तो एक ही समयमें सर्पकी प्रतीतिका अभाव होनेसे बाध्यबाधकभाव होता है। अतएव अन्य देश (अधिष्ठान) में अन्य कालमें देखे हुए पदार्थको दूसरे अधिष्ठानमें दूसरे कालमें निवृत्त होनेवाला पदार्थ मिथ्या नहीं देखा जाता और उक्त प्रमाणोंसे दूसरे पदार्थमें दूसरे पदार्थके भ्रान्तिकी निवृत्ति ही केवल कार्यके मिथ्याप्रतिपादनमें प्रमाण नहीं हो सकती। और जो आप कहते हैं कि जो प्रत्येक अवस्थामें अनुवर्त्तमान रहता है वही सत्य है, जैसे—सर्पभूदलन जलधारादि सभी अवस्थाओंमें रज्जु-अनुवर्त्तमान होनेसे सत्य है, वह तो स्वतःसिद्ध है अतः जो स्वतःसिद्ध है उसके सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है? और जो कहते हैं कि कार्य सत्य नहीं है क्योंकि सत्पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती इस शंकाका 'व्यवहृतये विकल्पः इषितः' इस पदसे उत्तर दे देते हैं। किन्तु जो आप कहते हैं कि सन्मात्र ब्रह्मकी उत्पत्ति मानेंगे तो निर्विकार, निर्गुण, निरीह आदि ब्रह्मविषयक प्रमा बाधित हो जायेंगे सो तो सत्य है, किन्तु हम तो ब्रह्मकी उत्पत्ति मानते नहीं हैं, केवल इतना अवश्य मानते हैं कि लयकालमें सूक्ष्म चेतन अचेतन-रूपविशेषणयुक्त ब्रह्म सृष्टिकालमें स्थूल चेतन अचेतन विशेषण-युक्त होकर व्यवहारार्थ देव मनुष्य देवदत्त यज्ञदत्त आदि विकल्प नामधारी होता है, अर्थात् प्रलयकालिक सूक्ष्म चेतनाचेतन विशिष्ट सूक्ष्म अवस्थासे सृष्टिकालमें स्थूल चेतनाचेतन विशेषण-

विशिष्ट स्थूल-अवस्थाको प्राप्त होकर व्यवहारके लिये देवदत्तादि भेदसे कहा जाता है यह हमको इष्ट है, वही व्यवहार आप भी मानते हो अतएव अवस्थान्तर माननेसे उक्त दोष कोई न होंगे। जैसे कि सुवर्णकी कटक कुण्डल आदि अवस्था तथा मिट्टीकी घट दीपादि अवस्था, ऐसाही ब्रह्मकी देव मनुष्यादि अवस्था है, किन्तु जिस प्रकार मिट्टी सुवर्ण स्वरूपतः विकारी होकर घट कुण्डल होते हैं, ब्रह्म ऐसा स्वरूपतः विकारी नहीं होता, किन्तु जीवके द्वारा विकारी होना है। अस्तु, कार्यकी सत्यता युक्तिसे न खण्डन होनेपर भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह श्रुति स्वयं कार्यको मिथ्या प्रमाणित करती है, इस शंकाका उत्तर 'भ्रमयति भारती' इस पदसे लेकर श्लोकान्ततकसे करते हैं। आपकी वचनरूपी सरस्वती 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिके द्वारा अर्थात् इस श्रुतिके अनेकों अर्थके व्यापारसे तथा पूर्व २ जनोंके अनुकरणसे कर्मकाण्डमें आसक्त जनोंको घुमा रही है, अर्थात् यज्ञादि कर्ममें लगे हुए अनादि काल पापोंसे जिनकी बुद्धियां नष्ट होगयी हैं उन लोगोंको आप लोगोंका वचन घुमा रहा है। आपका 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिका अर्थरूप वाग्जालका व्यापार केवल कार्यको ही मिथ्या नहीं सिद्ध करता किन्तु आपका अब्रह्मात्मक पदार्थ जगत्के स्वतन्त्रताके निषेधका भी द्योतन करता है और ब्रह्मके स्वरूपमें जो देव मनुष्यादि भेद हैं उनके भी निषेधका बोध करता है, अर्थात् ब्रह्ममें देव मनुष्यादि भेद कोई नहीं है, क्योंकि ये सब मिथ्या हैं, इत्यादिक अनेकों वृत्तियां हैं। इस प्रकार उक्त अर्थको जाननेवाले कहे हुए कार्यके मिथ्यावादमें कटिबद्ध तथा कर्म्मकाण्डमें परायण जनोंको "नेह नानास्ति" इस श्रुतिका अर्थ भ्रमित करता है। प्रथम विज्ञानी वेदान्तियोंके दूषित बुद्धिसे कल्पना किया गया कार्यका मिथ्याकथन तथा कारणका सत्य कथनरूप अनेकों बुद्धिके वाग्-जालोंके व्यापारके चक्करमें पड़कर कार्यके मिथ्यावादी वेदान्तीके दूषित बुद्धिके अनुगामी कर्म-काण्डमें संसक्तोंकी अन्धपरम्परा (गुरुका अनुगामी शिष्य, शिष्यका अनुगामी उसका शिष्य) से कार्यके मिथ्यावादमें ही बुद्धि भ्रमित हो रही है, और उपनिषदोंसे वर्णन करनेके योग्य परमात्माके वर्णन करनेके कारण ऐसे विशेषणभूत गुणोंसे युक्त ब्रह्मको माननेवाले भक्तोंके मतमें "नेह नानास्ति"-यह श्रुति अब्रह्मात्मक वस्तु कोई नहीं है इस बातको निषेध करती है। और जो असत्कार्यवादियोंके भ्रान्ति उत्पादन कर मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करती है तो हमलोग क्या करें?

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थः।

यत्,-इदम्,-अग्रे, न, आस, { **जिस कारणसे यह जगत् सृष्टिके पहले नहीं था और**

निधनात्, अनु, न, भविष्यत्,	प्रलयके अनन्तर भी न होगा।
अतः, अन्तरा, एकरसे, त्वयि,	इसीसे मध्यमें एकरस परब्रह्मस्वरूप आधारभूत आपमें
मृषा, विभाति, इति, मितं, (यतः)	मिथ्या ही प्रतीत होता है यह निश्चय जाना जाता है जो ऐसा है अत एव
(एवम्) अतः (श्रुत्या) द्रविणजातिविकल्पपथैः-उपमीयते,	श्रुति कहती है कि सुवर्णके नामभेद चूड़ा, कुण्डल, कंकण, सुवर्ण ही है इस दृष्टान्तमें जगत् प्रपञ्च सुवर्णसे चूडाकुण्डलादिकोंके समान निरूपण किया गया है
वितथमनोविलासम् ऋतम् इति,-	पुनः श्रुति कहती है कि उपरोक्त कुयुक्तियोंसे उक्त प्रपञ्चका मिथ्यात्व वर्णन करना यह उनके मनका वृथा ही विलास है, कार्य मिथ्या है इस बातको जो सत्य कहते हैं।
अबुधाः, अवयन्ति	वह अविवेकी अबुधोंका विचार है।

विशदार्थः।

यदि कहें कि हे सौम्य[1], जैसे कुम्भकारके चक्रमें स्थित एक ही मिट्टीके पिण्डका ज्ञान होनेसे उस पिण्डसे बने हुए सर्व घट दीपादि कार्योंका ज्ञान हो जाता है, केवल व्यवहारार्थ कथनमात्र विकारभूत घट दीपादिकोंका नाम है क्योंकि सत्यभूत मिट्टी ही है, इत्यादि श्रुतियोंसे मिट्टी आदि कारणोंके दृष्टान्तमें मिट्टी आदि कारणात्मक घटदीपादिकार्योंमें केवल मिट्टी ही सत्य कही गयी है और मिट्टीके विकार घटदीपादिकोंका नाम केवल व्यवहारार्थ है किन्तु कार्य घटादि मिथ्या प्रतिपादित है केवल कारण मिट्टी सत्य है। जैसे दृष्टान्तमें कार्यको मिथ्या कहकर कारण मिट्टी सत्य दिखायी गयी है वैसे ही दार्ष्टान्तिकमें भी सन्मात्र ब्रह्म सत्य है और कार्यभूत सब जगत् मिथ्या है यह बात आपको विना इच्छाके स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि श्रुति प्रमाणित है। ऐसी शंकामें मिट्टी पिण्डके कार्यादिक दृष्टान्तोंका मिथ्या वर्णन करना आज अल्प-बुद्धियोंको ही शोभित होता है, ज्ञानवानोंको नहीं होता, इस बातको 'न यदिदमग्र' इस श्लोकसे कहते हैं। इस श्लोकमें दो विभाग हैं सो 'न यदिदम्' यहांसे लेकर 'विकल्पपथैः' यहां तक कार्यके मिथ्यात्वादियोंके मतका अनुवाद है, और "वितथमनो" यहांसे

१ यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

लेकर श्लोकान्ततक असत्कार्यवादका खण्डन है ऐसा दो मतका विभाग है। कार्य मिथ्यावादी कहता है कि जिस कारणसे यह जगत् सृष्टिके पहले नहीं था और प्रलयके अन्तमें भी न रहेगा क्योंकि श्रुति कहती है कि हे सौम्य यह जगत् सृष्टिके पूर्व सत् रूप ही था, यह जगत् सृष्टिके पूर्व कालमें एक आत्मस्वरूप ही था और प्रलयके पश्चात् न रहेगा, यह जगत् सृष्टिके पूर्व प्रलयकालमें न असत् था न तो सत् ही था, अतः उत्पत्ति और लयके मध्य (वर्त्तमानसमय) में भी एक रस रहनेवाले केवल आपमें यह जगत् मिथ्यारूप ही दिखा रहा है ऐसा निश्चय है, जिस कारण ब्रह्मसे उत्पन्न यह जगत् है इसी कारणसे उक्त श्रुतियोंके प्रमाणसे सुवर्ण मिट्टी लोहादि सर्व धातुओंके विकारभूत कुण्डल घट-अस्त्रादिक नाम भेद होनेसे अर्थात् सुवर्णका कुण्डल, मिट्टीका घट लोहका शस्त्र इत्यादि नाना नाम रूप भेद है किन्तु उक्त कुण्डल घटादिद्वारा सुवर्ण मिट्टी इत्यादि अपना अपना कार्य अपने अपने समान होनेसे अनुमान किये जाते है कि कुण्डल सुवर्ण है, घट मिट्टी है ऐसा निश्चय होता है। जैसा सुवर्ण मिट्टी आदिमें कार्य कारणका नाम मात्र भेद है(पृथक् पृथक् है) केवल सुवर्ण मिट्टी ही सत्य हैं, वैसे ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशादिकोंका केवल नाममात्र भेद है, किन्तु ब्रह्म ही सत्य है और सभी कार्य मिथ्या हैं। ऐसा श्रुतियोंसे निरूपण किया गया है। अब श्रुतियोंको दिखाते हैं:-यथा हे सौम्य, इस उक्त श्रुतिसे एक ही मिट्टीके पिण्डका ज्ञान होनेसे सर्व घट शराव आदिका ज्ञान होता है वैसे ही 'हे सौम्य' एक ही लोहाके ज्ञान होनेसे सर्व खड्ग कुठारादिकोंका ज्ञान हो जाता है, जैसे एक ही नखनिकृन्तनी (नहन्नी) का ज्ञान होनेसे सर्व लोहगत कठोरताका ज्ञान हो जाता है, वैसे ही एक ही ब्रह्मके जाननेसे सम्पूर्ण जगत् और देव मनुष्यादिक जाने जाते हैं अतः कार्य मिथ्या है। अब 'वितथ' इत्यादिसे उक्त मिथ्या-कार्यवादमें दूषण देते हैं कि उपरोक्त कुयुक्तियोंसे जगत् प्रपञ्चको मिथ्या वर्णन करना यह उन लोगोंका वृथा ही मनका विलास है। कारण कि उक्त प्रपञ्चका बाध नहीं होता, किन्तु नाश होता है क्योंकि जिस पदार्थमें जो उपाधि (संज्ञा नाम) सर्वदा वर्त्तमान है उसी पदार्थमें उसी उपाधिका बाध नहीं हो।

जिससे कुतर्कियोंके इष्ट कार्य मिथ्याकथनको जो ठीक प्रमाणित है ऐसा कहते है वे अबुध हैं क्योंकि हे सौम्य एक ही मिट्टीके पिण्डसे सर्व घट शरावादि जाने जाते है, इस दृष्टान्त श्रुतिके अर्थको जो नहीं जानते वेही कार्यको मिथ्या कहते है और जो इस दृष्टान्त श्रुति-का अर्थ जानते हैं वे कभी भी कार्यको मिथ्या नहीं कहते हैं क्योंकि इस दृष्टान्त श्रुति-में न तो कार्यके मिथ्यात्वका ही प्रतिपादन है न तो कारणको सत्य ही कहा है, किन्तु कार्य-कारणसे अन्य पदार्थ नहीं है दोनों एक ही पदार्थ हैं इस बातको कहा है। इसी बातको श्रुति कहती है:-"गुरुकुलसे पढ़कर आये हुए श्वेतकेतुके प्रति उनके पिता उद्दालकका प्रश्न है

१ "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।

कि तुम अपनी विद्याके अहंकारसे परिपूर्ण हो सो कहो, तुम न गुरुजीसे इस बातकी जिज्ञासा किया है कि जिसके श्रवणसे विना श्रवण किया हुआ विषय श्रवण कियेहुए की तरह होता है, और अप्रिय प्रिय होजाता है, जिसके जाननेसे संपूर्णका ज्ञान होजाता है, नहीं जाना हुआ जाने हुएकी तरह होजाता है।" इस श्रुतिमें उद्दालकजी, समस्त जगत्का कारण एक ब्रह्म ही है और कारणसे कार्य अन्य (दूसरा) नहीं है इस बातको हृदयमें रखकर कारण स्वरूप ब्रह्मका ज्ञान होनेसे कार्य-रूप जगत् प्रपञ्चका ज्ञान निश्चय होनेपर, सर्व जगत्का सूक्ष्म माया जीव विशेषण युक्त ब्रह्म ही कारण है इस बातको न जाननेवाले शिष्यके प्रति उद्दालकजीका उक्त प्रश्न है। (इस प्रश्नको श्रवण कर श्वेतकेतु गुरुके पास जाकर प्रश्न करते हैं कि) हे भगवन् ! वह कैसा आदेश है कि जो दूसरेके ज्ञानसे दूसरेका ज्ञान होता है। अन्यके ज्ञानसे अन्यका भी ज्ञान होना असंभव है ऐसे प्रेरण किये गये गुरुजी एकही ब्रह्म समस्त जगत्का कारण है ऐसा उपदेश करते हुए लोककी प्रतीतिमें निश्चय सिद्ध है कि कारणसे कार्य दूसरा पदार्थ नहीं, किन्तु कार्य कारण दोनों एक ही हैं। इसीको "हे सौम्य ! जैसे एक ही मिट्टीके" इत्यादि उक्त दृष्टान्त श्रुतिसे कहते हैं, जैसे एक ही मिट्टीके पिण्डसे बने हुए घट शरावादिकोंका मिट्टीसे अन्य पदार्थ न होनेसे ही मिट्टी पिण्डके ज्ञान होनेसे यावत् कार्य है वे भी जाने जाते हैं।

यहांपर वैशषिक नैयायिकके वचनद्वारा कारणसे कार्यमें दूसरी बुद्धि (दूसरा रूप) दूसरा नाम होनेसे कारणसे कार्यका भेद होनेसे कारणसे कार्य दूसरा है, जैसे सूत्रसे उत्पन्न वस्त्रमें सूत्राकार बुद्धिको त्यागकर चौकोना बुद्धिऔर वस्त्र नाम हो जाता है। यह सन्देह निवारणार्थ "हे सौम्य ! जैसे एक ही मिट्टीके पिण्ड," इत्यादि श्रुति द्वारा लोकप्रतीतिसे ही मिट्टीरूप कारणसे कार्यरूप घटकी अनन्यता दिखलायी गयी है कि कार्य कारण दोनों एक ही पदार्थ हैं और श्रुतिमें जो वाचारम्भण शब्द है उसका अर्थ है कि वह वचनपूर्वक व्यवहार निमित्त है, हेतु भी यहांपर इस तरह है कि जैसे कोई किसीसे कहता है कि यदि यहां पर वास करना हो तो अध्ययनके द्वारा वास करो। ऐसा ही घटसे जल ले आओ इत्यादि वचनपूर्वक व्यवहार लोकमें होवे, इस व्यवहारके सिद्ध्यर्थ वही मिट्टी पदार्थसे गोलाकार पोला और मोटा इत्यादि अवस्था भेदरचित पदार्थको घट आदि ऐसे नामसे कहते हैं। जल ले आना इत्यादि व्यवहारके साधनार्थ मिट्टी ही पदार्थ दूसरी अवस्थाको प्राप्त होकर घट शरावादि नामोंको धारण करता है अतः घट शरावादि भी मृत्तिका ही सत्य है। उक्त श्रुति केवल मिट्टी सत्य है घटादि मिथ्या हैं इस बातको प्रमाणित नहीं करती है। और घट कुण्डल मिट्टी सुवर्णसे दूसरे द्रव्यान्तर नहीं हैं किन्तु उसी मिट्टी सुवर्णद्रव्यका अवस्था-विभाग मात्रसे ही घट कुण्डल बुद्धि शब्द उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे एक ही देव-दत्तके अवस्था-भेदसे बालक, युवा और वृद्ध इत्यादि बुद्धि शब्द (नाम) भेद कार्य

विशेष उत्पन्न हुए देखे जाते हैं, ऐसे ही मिट्टी सुवर्णके घट कुण्डलादि हैं। ऐसे ही एक ही माया जीव विशेषणयुक्त ब्रह्म सृष्टिके पूर्व प्रलयकालमें नाम रूपके विभाग करनेके अयोग्य सूक्ष्म माया जीव विशेषणयुक्त ही ब्रह्म रहता हैं वही ब्रह्म प्रलयके अनन्तर सृष्टिकालमें नाम-रूप विभागके योग्य स्थूल माया जीवात्मक जगद्रूपमें स्थित है। अतः अवस्थाओंके अनित्य होनेपर भी अवस्थान्तरको प्राप्त होनेवाले द्रव्य दोनों अवस्थाके योग्य होते हुए सत्य (नित्य) है ऐसा विवेकी लोग जानते है। स्थूलावस्थावाले चेतन तथा अचेतन प्रलयकालमें नहीं थे अर्थात् स्थूलरूपमें नहीं थे, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म अवस्थामे स्थित जड पदार्थ, उसी तमके समान जड (माया) पदार्थसे आच्छादित अत्यन्त सूक्ष्म अवस्थामे स्थित जीव भी था यह श्रुति प्रलयकालमे सूक्ष्म चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्मकी अवस्थितिकी सूचना करती है "उक्थ जडान्" और "अबुधा." इन शब्दोंसे जीवके अज्ञत्वकी सम्भावना सूचित होती है। अतः कार्य सत्य है। मिथ्या उस पदार्थका नाम है कि जिसका किसी कालमें सद्भाव न होता हो वे जैसे आकाशपुष्प, वन्ध्याके पुत्र, शशकशृङ्गादिका कभी सद्भाव नहीं होता है, अतः कार्यभूतजगत्-का जो मिथ्यापना सत्य कहते हैं वे अविवेकी है ॥ ३७ ॥

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ॥
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थः।

सः यत् अजया (मोहितः) अजाम्	वह जीव जिससे आपकी मायासे मोहित होकर मायाके कार्य देव मनुष्यादि मूर्त्तिको
अनुशयीत, (ततः) गुणान्, जुषन्	धारण करता है, इसीसे संसारके विषयोंका सेवन करता हुआ
सरूपताम् भजति तदनु मृत्युं	देहके समान धर्मको प्राप्त होता है तदनन्तर मरणको प्राप्त होता है
भजति (अतः) अपेतभगः (भवति)	इससे जीव मानो स्वाभाविक ज्ञान ऐश्वर्य नष्ट हो गया है ऐसा हो जाता है
त्वम्,-उत,-अहिः,-त्वचम्,-इव, ताम्,	आप तो जैसे सर्प केचुलको छोड़ देता है उसी तरह उस मायाको

१ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं तम आसीत् तमसा गूढं प्रकेतम्।

जहासि,–आत्तभगः,-अपरिमेयभगः,	छोड़ देते हैं इसीसे आप छहों ऐश्वर्योंका नित्य स्वीकार किये हो, उपरोक्त छहों ऐश्वर्य आपके परिणामरहित हैं इसीसे
अष्टगुणिते–महसि,–महीयसे,	अपापादि अष्ट गुणोंसे सम्पन्न स्वतःप्रकाशमान स्वरूपमें स्थित होकर आप पूजित होते हो।

विशदार्थः ।

यदि कहो कि परमात्माके समान जीवोंका भी नित्यत्व, एकाकारत्व (न्यूनाधिक भाव रहितत्व) और प्रकृतिमें स्थित रहना ईश्वरके सदृश है तब जीवोंका जनन मरणादि सांसारिक क्लेश होना और परमात्मामें उक्त क्लेशकी सम्भावना ही न होना यह क्यों? इस प्रश्नमें कहते हैं कि जीव मायाके वशीभूत है और परमात्मामें मायाके अधिकारका अभाव है। इस बातको "स यदजया" इस श्लोकसे कहते हैं:–जीवको संसार होनेका कारण यह है कि जो आपकी मायासे मोहित है अतः स्वभावसे ही देव मनुष्यादि रूपसे परिणाम होनेवाली आपकी मायाको धारण करता है और मायाके कार्यभूत देव मनुष्यादि शरीर धारणके पश्चात् रूपरसादि संसारी विषयोंका सेवन करता हुआ स्थूल दुर्बलादि शरीर धर्मको धारण करके मैं स्थूल हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं रोगी हूं इत्यादि देहमें ही आत्माका अभिमान करता है अर्थात् शरीरको ही आत्मा मानने लगता है, अतः जब उक्त मायाका परिणामभून दुर्बल स्थूलशरीर आत्माका अभिमान करता है तब मरणको प्राप्त होता है उसीप्रकार वारंवार जननमरणरूप संसृतिका भागी होनेसे जीवका स्वाभाविक ज्ञानरूप ऐश्वर्य मानो नष्ट हो गया है इस तरहका हो जाता है अर्थात् वह जीव स्वतः ज्ञानवान् होनेपर भी मायाके वशीभूत जो ज्ञान भूलजानेसे जनन मरणादि दुःखोंका अनुभव करता है और आप तो जैसे सर्प अपने शरीरसे केचुलको त्याग देता है वैसे ही आप मायाको दूर कर देते हैं और निश्चय कर आप प्रकृतिकी परतन्त्रताके सम्बन्धसे रहित हैं। अर्थात् आप प्रकृतिमें रहते हुए भी प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त न होकर प्रकृतिको ही अपने आधीन रखते हैं। यहांपर सर्पके केचुलक दृष्टान्तका केवल त्यागमात्रमें अभिप्राय है किन्तु धारण करनेमें नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण ऐश्वर्य १ समस्त पराक्रम २ यश ३ श्री ४ ज्ञान ५ वैराग्य ६ इन छहों ऐश्वर्योंको नित्य ही स्वीकार कर आप रहते हैं और आपका उपरोक्त ऐश्वर्य नित्य निरवधिक है। यदि कहो कि जीवोंके समान मैं भी देशकालके विभागयुक्त ऐश्वर्यवाला हूँ सो नहीं कह सकते। क्योंकि उक्त ऐश्वर्य सम्पन्न होकर सदा पाप १ जरा २ मरण ३ शोक ४ मोह ५ जलपानेच्छा आदिसे रहित ६ सत्यकाम ७ सत्यसंकल्प ८ इन अष्ट गुणोंसे सम्पन्न अनन्त स्वतः-प्रकाशमान निज स्वरूपमें स्थित होकर आप पूजित होते हैं।

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुराधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ॥
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थः ।

यतयः-यदि-हृदि स्थिताः-कामजटाः,	योगीजन यदि हृदयमें स्थित विषय-वासनाओंके मूलको
न-समुद्धरन्ति-तर्हि-तेषाम् असतां	नहीं उखाडते तो उन असतोंके
हृदिगतः-अपि, त्वं, दुराधिगमः	हृदयमें रहते हुए भी आप उनको दुःखसे भी मिलनेके अयोग्य हो
ऽस्मृतकण्ठमणिः-(इव) हे भगवन्	जैसे कण्ठमें धारण की हुई मणिका स्मरण न रहनेसे न मिलनेके समान है उसीतरह हे भगवन्
तेषाम् असुतृपयोगिनाम् उभयतः अपि	और उन प्राण इन्द्रियके पोषणमें परायण योगियोंका इसलोक और परलोकमें भी
असुखम् अनपगतान्तकात् अनधिरूढपदात्	दुःख ही है क्योंकि इस लोकमें अनिवृत्त मृत्युसे भय और परलोकमें
भवतः उभयतः असुखम् ।	आपके पदको न प्राप्त होनेसे यमराजसे भय बना ही है अतः दोनों लोकोंमें दुःख ही है

विशदार्थः ।

यदि कहो कि पूर्वोक्त ज्ञानरूप ऐश्वर्यके नष्ट हो जानेपर पुनः जीवोंका भगवन् तथा आत्म-
स्वरूपके ज्ञान प्राप्तिमें क्या कारण है ? उसको कहते हैं कि सर्व विषय वासनाओंको त्यागकर
और अन्य देवोंकी उपासनाओंको छोड़कर केवल परमात्माकी अनन्य भक्तिपूर्वक उपासनासे ही
आत्मा और परमात्माका ज्ञान होता है, अतः परमात्माके सानुकूल रहनेपर भी जो विषयवासना-
में परायण रहते उनके जन्मकी अनन्यताका ' यदि न समु०", इस श्लोकसे कहते हैं । यत्नशील
योगीजन मनके जीतनेमें परायण होते हुए भी निज हृदयमें स्थित विषयवासनारूपी वृक्ष-
मूलको उन्मूलन नहीं करते तो उन असत् योगियोंके दूषित हृदयमें स्थित होते हुए भी आप
उनके दुःखसे भी प्राप्तिके योग्य नहीं होते, जैसे कण्ठमें धारण की हुई मणि स्मरण न होनेसे
कण्ठमें स्थित होनेपर भी अप्राप्तके ही समान है किन्तु हे भगवन् ! प्राण इंद्रियोंके तृप्ति करनेमें

और विषयोंमें परायण उन कुयोगियोंको इस लोकमें तथा परलोकमें दुःख ही होता है, सुख कहीं नहीं होता, क्योंकि इस लोकमें अत्यन्त भोगविलासादि सुख प्राप्त होनेपर भी नहीं निवृत्त हुए मृत्युसे उपस्थित मरणके भयसे दुःखित ही रहते हैं, आपके श्रीचरणारविन्दोंकी भक्ति उपासनाके विना आपके त्रिपादविभूति आदि पदकी प्राप्ति न होनेसे और अपने वर्णाश्रमधर्मके उल्लंघन करनेसे परलोकमें भी कर्म्मानुसार दण्ड देनेवाले यमराजस्वरूप आपसे सर्वदा दुःख ही होता है ।

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतांश्च गिरः ॥
अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थः ।

त्वदवगमी, भवदुत्थशुभाशुभयोः–	आपको यथार्थ जाननेवाले भक्तजन संसारमें उत्पन्न पुण्य पापोंके सम्बन्धको नहीं जानते
गुणाविगुणान्वयान्,–तर्हि,–देहभृतां गिरः,–	और स्तुतिनिन्दारूप संसारी मनुष्योंसे कहे हुए वचनोंपर ध्यान नहीं देते
न वेत्ति (कुतः) यतः त्वम् अपवर्गगतिः	क्यों नहीं सुनते कि जो उनको मोक्ष देनेवाले आप ही हो
मनुजैः,–सह,–अनुयुगम्,–सगुणगीतपरम्परया,	आपके भक्तोंके साथ सब युगोंमें रहनेवाली अनन्त कल्याणयुक्त आपकी कथारूपी अमृतके गानकी परम्परासे
अन्वहम्, श्रवणभृतः,-(अतः) न,-वेत्ति	प्रतिदिन श्रवण पूर्ण हो गये हैं अतः आपको हृदयमें धारण करनेसे उक्त वचनोंको नहीं सुनते

विशदार्थः ।

अब जिनको भगवच्चरणारविन्दकी भक्ति उपासनाके अतिरिक्त और किन्हीं पदार्थोंकी आकांक्षा नहीं है ऐसे भगवद्भक्तोंको इस लोक और परलोकमें भी सुख ही सुख है । इस बातको "त्वदवगमी" इस श्लोकसे कहते हैं । आपको यथार्थ जाननेवाले आर्त्त (अति दुःखसे पीडित होकर आपके शरणमें जानेवाले) जिज्ञासु–(आपके नाम गुणादि अवतारोंके चरित्र तथा भक्ति प्रपत्ति आदि जाननेके लिये आपकी शरण लेकर गुरुकुलमें वास करनेवाले) अर्थार्थी (संसारी विषयादि सुख प्राप्तिके लिये आपकी आराधना उपासना करनेवाले) ज्ञानी

(आपके चरणोंमें शुकदेवादिवत् स्वतः ज्ञानको प्राप्त होनेवाले) आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी इन चारों भक्तोंमे आपको यथार्थ जाननेवाला अंतिम ज्ञानी भक्तजन संसारमें उत्पन्न पाप पुण्योंके सुख, दुःखोंके सम्बन्धोंको नहीं जानते और उस कालमें देहधारी अज्ञानी जीवोंकी कही हुई निन्दा स्तुति वचनोंमें भी ध्यान नहीं देते अर्थात् पूर्वजन्मकर्माधीन सुख प्राप्त होनेपर सुखी नहीं होते न तो दुःख प्राप्त होनेपर दुःख ही मानते और देहधारी अज्ञानी दुष्ट जनोंके कहे हुए ऊँचे नीचे वचनोंको सुनते हुए भी नहीं सुनते—क्योंकि उनको यह बात भली भांति ज्ञात है कि ये अज्ञानी जन भगवन्मायासे मोहित हो अन्धे हो रहे हैं, उन लोगोंको उपरोक्त सुखादिकोंका अनुसन्धान न होनेका कारण यह है कि उनका शरीरान्तमें मोक्ष देनेवाले आप हो अतएव उनको परलोकमें मुक्ति सुखकी प्राप्ति अचल है और इस लोकमें सुख प्राप्तिका कारण यह है कि आपके भक्तजनोंके साथ प्रति युगमें रहनेवाली अनन्त कल्याण गुण—परिपूर्ण (सम्पन्न) आपके श्रीरामकृष्णादि अवतारोंके चरित्रकी कथा सुधाकी परंपराके गानका रातों दिन श्रवण करनेसे आपको निज हृदयमें धारणकर किये हैं और आपके कथामृतके पानके आनन्दमें मग्न हो रहे हैं अतएव वे लोग उपरोक्त सुखदुःखादिका अनुसन्धान नहीं करते ॥ ४० ॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचयानतु सावरणाः ॥
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः ।

द्युपतयः,-एव,-ते,-अन्तं,-न,-ययुः	स्वर्गादि लोकोंके स्वामी ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि आपके गुणानुवादके अन्तको न प्राप्त हुए ।
(अन्ये किं) (किं बहुना) त्वम्, अपि, न यासि,	मनुष्यादि कैसे पार हो सकते हैं ? बहुत कहनेसे क्या है ? अपने गुणोंके अन्तका आप भी नहीं जानते ।
(कुतः) अनन्ततया,-यत,-अन्तरा,	क्योंकि आपके गुणोंका अन्त नहीं है जिसके एक एक रोम छिद्रोंके भीतर
सावरणाः,-अण्डनिचयाः,-वान्ति,	पृथिवी आदि सातों आवरणोंके सहित ब्रह्माण्डोंके समूह उडा करते हैं
यथा,-खे,-रजांसि,-वयसा,-सह,-वान्ति,-	जैसे आकाशमें पृथिवीकी धूलि पक्षियोंके साथ उड़ा करती है तद्वत्
इव श्रुतयः-त्वयि अतन्निरसनेन,	श्रुतिजन आपमें जीवमायाके सजातीय भाव का निषेध करती हुई परमात्माका

भवन्निधनाः,-फलन्ति,- { इतना ही रूप, इतना ही गुण, इतनी ही विभूति इसप्रकार परिमाण करके प्रतिपादन करती हुई यथार्थ कहनेमें समर्थ नहीं है ।

विशदार्थः ।

इस उपरोक्तप्रकार श्रुतिलोग स्वबुद्धि अनुसार परमात्माकी स्तुति करके अन्तमें कहते हैं कि आपकी महिमाका मन बुद्धि वचनकी शक्तिसे अपार होनेसे हम सब पूर्ण रूपसे स्तुति करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं । इस बातको 'द्युपतयः' इस श्लोकसे कहते हैं । स्वर्ग आदि लोकोंके पालक ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदिक आपके गुणोंका गान करते हुए आपके स्वरूप और स्वभावके प्रतिपादन करनेमें अन्त (पार) को नहीं प्राप्त हुए । तब मनुष्यादिक आपके गुण गानेमें नहीं पार होते इस बातका कहना ही क्या है ? ज्यादा कहनेसे ही क्या है, अपने विभूति, स्वरूप और गुणके अन्तको आप ही नहीं जानते, कारण कि आपके विभूति, स्वरूप और गुणको निःसीम तथा देश, काल और समयादिकोंके विभागसे रहित होनेसे आप नहीं जानते । यदि कहो कि ऐसा कहनेसे मेरी सर्वज्ञतामें दोष पड़ेगा । सो एतन्मात्रसे आपका सर्वज्ञत्व भङ्ग न होगा, क्योंकि जो पदार्थ जितना बड़ा, जिस रूप रङ्गका हो उसका तदाकार उसी तरह यथार्थ जानना ही सर्वज्ञत्व है, और जो पदार्थ असीम देश कालादि विभागोंसे रहित है उसको यह पदार्थ इतना बड़ा इस ढङ्गका है यह कहना ही अज्ञत्वमें शामिल है,आपकी महिमा अपरिच्छिन्न है इस बातको 'यदन्तरा' इत्यादि पदसे कहते हे कि जिस आपके एक एक रोमकूप (छिद्र) में पृथिवी १ जल २ तेज ३ पवन ४ आकाश ५ अहंकार ६ महत् ७ इन सातों आवरणोंके सहित ब्रह्माण्डोंके समूह भ्रमा करते हैं; जैसे आकाशमें पक्षियोंके सहित पृथिवीकी धूलि उड़ा करती है उसीतरह आपके रोमछिद्रोंमें ब्रह्माण्ड उड़ा करते हैं । [श्लोकके 'श्रुतयः' इस शब्दसे ज्ञात होता है कि परमात्माका उपरोक्त स्वरूप होनेसे श्रुतिलोग यथेष्ट प्रतिपादन नहीं कर सकते किन्तु अनुमानतः परोक्षरूपसे यत्किञ्चित् प्रतिपादन करते हैं और स्वशक्त्यनुकूल स्तुति भी करते हैं । तथा स्तुतिका करना भी एक दूसरेके अभिप्रायसे है अर्थात् श्रुतिद्वारा अथवा श्रुतिका प्रमाण देकर कोई चेतन स्तुति करता है ।] श्रुतिने आपमें प्रकृति पुरुषका निषेध नहीं किया है किन्तु अपार महिमासम्पन्न आपसे प्रकृति पुरुषकी पृथक्ता कथन कर जीव मायाके सजातीय भावका आपमें निषेध कर दोनोंसे विलक्षण आपको कहा है । क्योंकि समस्त जगत्का आपके शरीररूपसे प्रतिपादन करते करते आपमें ही विराम लेनेवाली श्रुतियां शास्त्रप्रमाणसे और अपने हार्दिक अभिप्रायसे प्रकृति जीवके सजातीयभावका आपमें निषेध करती हुई आपको माया जीवसे विलक्षण प्रतिपादन कर सफल यानी कृतार्थ होती हैं । परमात्मा दोनोंके सजातीयभावसे रहित और विलक्षण है, केवल इतना ही श्रुति आपका प्रतिपादन करती है । और परमात्माका इतना स्वरूप है, इतना ही गुण है, इतनी ही विभूति है इस प्रकार इदमित्थं (परिच्छेद) करके प्रतिपादन करनेमें वेद समर्थ नहीं है ॥ ४१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थः ।

इतिः, एतत्-आत्मानुशासनम्	श्रीनारायण भगवान् बोले कि हे नारदजी, इस प्रकार इन उक्त २८ अट्ठाईस श्रुतियोंके संवादको लेकर (सनन्दनसे
आश्रुत्य	कहे हुए) परमात्माके विचाररूप अनुशासन (उपदेश) का श्रवण कर
ब्रह्मणः पुत्राः सिद्धाः	ब्रह्माके पुत्र सनकादिक सिद्ध तथा मरीच्यादि प्रजापति
आत्मनः गतिम् ज्ञात्वा,	परमात्माके तत्त्वको यथेष्ट जानकरके
अथ, सनन्दनम् , आनर्चुः	अनन्तर सनन्दन भगवान्‌की पूजा करने लगे (प्रशंसा करने लगे) ॥ ४२ ॥

इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः ।

पूर्वजातैः,व्योमयानैः, महात्मभिः-	सर्वसे पूर्व उत्पन्न हुए आकाशमार्गसे चलनेवाले सनन्दनादि महात्माओंने
अशेषसमम्नायपुराणोपनिषद्रसः, इति समुद्धृतः,	सम्पूर्ण पूर्वमीमांसा (कर्मकाण्ड) की श्रुतियोंका तथा पुराणों (इतिहासों)का और उत्तरमीमांसा उपनिषत् श्रुतियोंका तात्पर्यरूपी रस इन पूर्वोक्त स्तुतियोंमें उद्धृत किया(प्रकाशित किया) है ॥ ४३ ॥

त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रुत्वा चात्मानुशासनम् ।
धारयँश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः ।

हे ब्रह्मदायाद-नृणाम् कामानाम्	हे नारद,मनुष्योंकी अखिल विषयवासनाओंको

भर्जनम्, एतत्, आत्मानु-शासनम् श्रुत्वा	नाश करनेवाले श्रुतिकी स्तुतिरूप परमात्माके उपदेशको सुनकर
धारयन्-कामम् गाम् चर	हृदयमें धारण कर अपनी इच्छानुसार पृथिवी आदि लोकोंमें विचरण करो ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच ।

एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान् ।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः ।

हे राजन् ऋषिणा आदिष्टम्,	श्रीशुकदेवजी बोले कि हे परीक्षित्, नारायण भगवान्के उपदेशको
श्रद्धया-गृहीत्वा, पूर्णः	श्रद्धापूर्वक निश्चय बुद्धिसे ग्रहण करनेसे ही संशयके निवृत्त हो जानेसे पूर्णचित्त (प्रसन्नमन)
आत्मवान्,	परमात्मामें परायण
श्रुतधरः वीरव्रतः	गुरुओंके उपदेशको श्रवणमात्रसे धारण करने वाले तथा जितेंद्रियोंके व्रतमें परायण
सः मुनिः आह	वह नारदऋषि गुरु श्रीनारायण ऋषिसे बोले ॥ ४५ ॥

नारद उवाच ।

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः ।

अमलकीर्त्तये-भगवते, तस्मै	नित्य निर्दोष उक्त छहों निरवधिक ऐश्वर्य-ज्ञानसम्पन्न मूर्ति सर्व लोकके सुख देनेवाले उन
कृष्णाय, नमः, यः,	श्रीकृष्णरूपी नारायण आपके लिये नमस्कार है; जो आप
सर्वभूतानाम् अभवाय,	सर्व प्राणियोंके मोक्षसाधनार्थ
उशतीः, कलाः, धत्ते	प्रकाशमान विद्याको धारण करते हैं ॥ ४६ ॥

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थः ।

इति, आद्यम् ऋषिम् च,	इस प्रकार आदिऋषि श्रीनारायण भगवान्-को और
महात्मनः तत्–शिष्यान्	निर्मल अन्तःकरणवाले उनके शिष्यवर्गोंको
आनम्य, ततः साक्षात्–मे	प्रणाम कर पश्चात् स्वयं नारदऋषि हमारे,
पितुः, द्वैपायनस्य आश्रमम् अगात्	पिता व्यास भगवान्के आश्रमको पधारे॥४७॥

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थः ।

भगवता-सभाजितः,	श्रीव्यासभगवान्से विधिवत् पूजित होकर
कृतासनपरिग्रहः,	अच्छी तरह आसनमें विराजमान नारदजी
तस्मै–नारायणमुखाच्छ्रुतम्	श्रीव्यासजीसे नारायणभगवान्के मुखसे सुना हुआ ।
वर्णयामास	उक्त श्रुतियोंके स्तुतिभूत वचनका वर्णन किया और व्यासजीने हमसे वर्णन किया ॥४८॥

इत्येतद्वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ॥
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः ।

हे राजन्,–नः यत्–प्रश्नः,	हे परीक्षित् हमारे प्रति जिस हेतुसे प्रश्न
त्वया,कृतः इति एतद्वर्णितम्	आपने किया था उसका उत्तर इस उक्त श्रुति-स्तुतिरूप वर्णन किया गया
यथा, अनिर्देश्ये-,निर्गुणे,	जैसे देवमनुष्योंका निर्देश किया जाता है उसके अयोग्य, मायासम्बन्धी गुणोंसे रहित
अपि ब्रह्मणि,–मनः चरेत्	होते हुए भी ब्रह्मके विषयमें जैसे ही श्रुतियां वर्त्तती हैं वैसा ही मन भी गति पाता है ४९॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ॥

यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे श्रीनारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थः ।

यः,-अस्य आदिमध्यनिधने	जो इस जगतके उत्पत्ति-पालन-संहारके लिये "तदैक्षत बहु स्याम्" इस श्रुतिके अनुसार
उत्प्रेक्षकः,यः,अव्यक्तजीवेश्वरः,	संकल्प करनेवाला है और जो, जीवमायाका शासन (नियमन) करनेवाला है
यः,इदम् सृष्ट्वा,ऋषिणा,अनुप्रविश्य,	जो, इस महत्से लेकर पृथिवीपर्यन्त तत्त्वोंको उत्पन्न कर चतुर्मुखजीवके द्वारा प्रवेश कर
पुरः, चक्रे,-ताः,शास्ति, अनुशयी,	देव मनुष्यादि शरीरका निर्माण करता है, पुनः जो देवमनुष्यादिकोंका शासन करनेवाला है और कर्मवशीभूत जीवगण
यं संपद्य, अजां जहाति-यथा (पक्षी)	जिसको पाकर अनादिकालसे लगी मायाको छोड़ देता है, जैसे पक्षी घोंसलेमें
सुप्तः, कुलायम्, कैवल्यनिरस्तयोनिम्.	वासकर पुनः उस घोंसलेको त्याग देता है, जो संसारी जीवोंको मोक्ष देकर नाना योनियोंमें होनेवाले दुःखोंको दूर करनेवाला है-
अभयम्,तम्, हरिम्,अजस्रम्, ध्यायेत्,	और जो अभयको देनेवाला है, और जो आश्रित जनोंकी आर्तिका हरण करनेवाला है उस परमात्माका निरंतर ध्यान करना चाहिये ।

विशदार्थः ।

सर्वकर्म वेद (कर्मकाण्ड)श्रुतियोंका,इतिहास पुराणोंका और उपनिषद् (वेदान्त)श्रुतियोंका रस उद्धृत किया गया है ऐसा कहा है, सो वह कौनसा वेदादिकोंका रस है कि जो उक्त श्रुतियोंकी स्तुतिसे प्रकाशित हुआ है ऐसी शंकामें कहते हैं कि समस्त शास्त्रोंको मथन कर वारंवार विचार करनेसे एक यही सिद्ध हुआ है कि सबको त्यागकर केवल श्रीमन्नारायणका सर्वदा ध्यान करना चाहिये, इस उक्तिके अनुसार, जगत्की उत्पत्ति, पालन, लय आदि क्रीडा करनेवाला

१ आलोड्यसर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ।

सर्व जगत्का अन्तरात्मा, बन्ध मोक्ष देनेवाला, परमात्मा ही उपास्य है यह ... रस उद्भृत किया गया है, यह बात कहनेके लिये सृष्टि–पालन–संहार करनेवाले गुणोंसे युक्त परमा... व्याख्यान वर्णन "योऽस्योत्प्रेक्षकः" इस श्लोकसे करते हैं।

जो इस जगत्के उत्पत्ति–पालन–संहारके निमित्त संकल्प करता है कि "एक ही मैं बहुत रूप हूंगा" उदीक्षिता है, (संपूर्ण यत् शब्दोंका 'कैवल्यनिरस्तयोनिम्' इस पदके साथ सम्बन्ध है) जो कारण(सूक्ष्म), अवस्थामें स्थित मायाजीवोंके अन्तः प्रवेश कर दोनोंको नियमन करता है, (इस वाक्यसे कारण अवस्थामें परमात्माको जडचेतन रूप विशेषणसे युक्तता और उपादानकारणता और उपादानके साधनभूत सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध होती है) 'उत्प्रेक्षकः' (इस शब्दसे परमात्माको सब जगत्की निमित्त कारणता और निमित्त कारणके उपयोगी सर्वज्ञता भी सूचित है) जो इस महत् तत्त्वको पृथिवीपर्य्यन्त सर्व तत्त्वसमूहोंको उत्पन्न कर आदि ऋषि चतुर्मुख जीवके द्वारा उसमें प्रवेश कर देव मनुष्यादि शरीरोंको निर्म्माण करते हैं पुनः उन्हीं देव मनुष्यादिकोंका शासन करता है (पुर शब्द यहांपर सजीव देव मनुष्यादि शरीरोंका वाचक है) ("ऋषिणा चक्रे पुरः संहिताः" ऐसा भी कहीं पाठभेद है उसका अर्थ है कि पहले ब्रह्माने वेदकी रचना की है, इस पदसे यह बात सूचित हुई कि ब्रह्मा लोकका हितैषी है, क्योंकि शास्त्रकी रचना हितकारक है) पूर्वजन्मके भोगसे अवशिष्ट कर्मके परवश जीव (उपासनाओंके द्वारा) जिस आत्माको पाकर अनादिकालसे लगे हुए मायाके सम्बन्धको त्यागकर जैसे पक्षी घोंसलेमें कुछ कालतक वासकर पुनः उसको छोड़कर कहीं अन्यत्र उड़ जाता है ऐसे ही जीव पूर्व जन्मके भुक्तावशिष्ट कर्मवश मायामें कुछ काल वास कर पुनः परमात्माको पाकर मायाको छोड़कर मुक्त हो जाता है। समस्त जीवोंको मोक्षप्रदानसे नानायोनियोंमें होनेवाले, दुःखोंके दूर करनेवाले, अभयको देनेवाले, अपने आश्रित जनोंके आर्त्तिनाश करनेवाले उस परमात्माका निरन्तर ध्यान करना चाहिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे सान्वयार्थवेदस्तुत्याशयादर्शाख्यभाषाटीकायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८७ ॥

बाणाष्टनन्दे तु सुसम्मितेऽब्दे,
मासे मधौ नागतिथौ सुपक्षे ।
वेदस्तुतिः पूर्णपदं प्रयाता,
भाषा कृता चक्रधरेण यस्याः ॥ १ ॥

ह० पं० श्रीचक्रधर ।

